मन की अशांति को ललकार
शांति आपके हाथो में

जेलर

लेखक : पूज्य आचार्यदेव,
श्री विजय प्रेम-भुवनभानु-जयघोष-धर्मजित्-जयशेखरसूरिजी के शिष्य
आचार्य विजय अभयशेखरसूरि

प्रथम आवृत्ति : वि.सं.२०६८
तृतीय आवृत्ति : वि.सं.२०६८, कुल ७००० नकल

मूल्य : ४०.०० रूपिया

: प्रकाशक :
भुवने धर्मजयकर प्रकाशन,
गिरीशभाई वडेचा,
१०१, समेत शिखर एपार्टमेंट, काजी मैदान,
गोपीपुरा, सुरत - ३९५००१.
फोन : ०२६१ - २५९९३८७

: प्राप्ति स्थान :
(१) प्रकाशक

(२) श्री मनोजभाई
साइक्लोन इंडिया,
२२५, जय गोपाल इन्ड,
भवानी शंकर मार्ग, दादर (प.),
मुंबई - ४०००२८.
फोन : ०२२ - ३०४८४८३०

(३) डॉ.हेमंतभाई परीख
२१, तेजपाल सोसायटी,
फतेहपुरा बस स्टेन्ड के पास,
पालडी,
अहमदाबाद - ३८० ००७.
फोन : ०७९ - २६६३०००६

टाईप सेटींग : मानव ग्राफीक्स, मुंबई, मो.: ९८९२ ११ ५५ १२
प्रिन्टर : पूजा आर्टस्, मुंबई, मो.: ९८१९५ ४४१७७

श्री शांतिनाथाय नमः। श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः।
सिरसा वंदे महावीरं। ऐं नमः सिद्धम्
विजय प्रेम भुवनभानु-जयघोष-धर्मजित्-जयशेखर-अभयशेखरसूरिभ्यो नमः।

क्षमादेवी की प्रतिष्ठा की आमंत्रण पत्रिका

चिंटु ने पिंटु से पूछा - अपराध करके जो स्वीकार न करे वह कौन?
पिंटु - शैतान।
चिंटु - जो अपना अपराध स्वीकार कर लेता है वह कौन?
पिंटु - समझदार मनुष्य।
अंत में चिंटु ने पूछा - अपनी गलती न हो फिर भी स्वीकार करके जो क्षमा माँग लेता है वह कौन?
पिंटु - पति।

दांपत्यजीवन में जो इस शांतिसूत्र को अपना लेता है वह पति कहलाता है। परंतु मैं कहना चाहता हूँ कि आँखों से दिखनेवाले, नित्य घटित प्रसंगों में अपना कोई अपराध न होने पर भी (पूर्वभव की संभावना को मानकर) जो स्वयं को अपराधी मानता है, वह जीवन में शांति तो प्राप्त करता ही है, साथ साथ केवल अपनी पत्नी का ही पति - स्वामी न रह कर संसार के लोगों के हृदय का स्वामी बन जाता है और वह इतनी क्षमता भी प्राप्त कर सकता है कि भविष्य में वह जगत्पति भी बन जाएँ।

दूसरों की कुटिलता के कारण खुद को सहन करना पड़े फिर भी दूसरों का दोष न देखकर स्वयं को अपराधी के रूप में स्वीकार करना यह बात, अनंत काल से हमारी
(१) अपने आप को छोड़ कर अन्य सभी लोगों के दोष, अपराध देखने की वृत्ति -
(२) इस कारण से बार-बार उन जीवों के प्रति द्वेष करने की वृत्ति, और
(३) इन सब के मूल में स्थित हमारी तीव्रतम अहंकार वृत्ति...

इन सब के कारण अत्यंत कठिन है। हाँ, कठिन अवश्य है परंतु असंभव नहीं है।

क्रोध हमारे जीवन में अनंतकाल से दृढतापूर्वक आसन जमाकर बैठा है परंतु वह स्वभाव नहीं, विभाव है। क्रोध हमारे स्वभावरूपी घर का सदस्य नहीं है, वह बाहरी तत्त्व है। हमारे मनरूपी घर में आसन जमा कर अनंतकाल से बैठा है परंतु वह इस आत्मभूमि का स्वामी नहीं है, घुसपैठिया है। उसे हम भगा सकते हैं, निष्कासित कर सकते हैं... उसको हम निर्मूल कर सकते हैं।

चाणक्य ने नंदवंश को निर्मूल करने की जो प्रतिज्ञा की थी उससे भी अधिक दृढ़ प्रतिज्ञा अगर हम करें तो क्या असंभव हो सकता है?

क्रोध कलहप्रिय पत्नी है। उसीकी वज़ह से हम क्षमा नामक हमारी ममतामयी माता से दूर हो गये हैं। क्षमारूपी माता की गोद तो इतनी आरामदायक है, उसमें ऐसी संजीवनी है जो हमें प्रसन्नता तो प्रदान करती ही है, साथ साथ हमारी आपत्ति को संपत्ति में, कठिनाइयों को आनंदोत्सव में तथा मातम को महोत्सव में परिवर्तित कर देती है। अंतराय को अवसर बनाने

की क्षमता उसमें है।

उस क्षमादेवी – क्षमामाता के निकट जाने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

इस प्रश्न का उत्तर है यह पुस्तक – जेलर! कर्म न्यायाधीश, परेशान करनेवाला व्यक्ति जेलर और हम अपराधी... यह हुआ त्रिकोण। इस त्रिपदी का आधार ले कर अद्‌भुत तत्त्वोन्मेष के स्वामी पूज्यपाद गुरुदेवश्री ने हेतु, तर्क एवं दृष्टांत सहित इसको ऐसी सुंदर, यथार्थ, हृदयंगम शैली में प्रस्तुत किया है कि जिससे पुस्तक को पढ़ने के बाद, दूसरों के प्रति हमारी दृष्टि निश्चित रूप से बदल जाएगी।

● बिना अपराध सज़ा नहीं, बिना सुकृत पुरस्कार नहीं।

● X दुष्ट है, मुझे परेशान करता है...। जितनी बार ऐसा सोचेंगे उतनी बार आपको सज़ा मिलेंगी। और मेरे कर्म ही दुष्ट हैं ऐसा आप जितनी बार चिंतन करेंगे उतनी बार आप भव्य पुरस्कार पाएंगे।

● अन्य जीवों के द्वारा दिये गये कष्टों को समतापूर्वक सहन कर लेना आत्महित का Short Cut है।

● तेरे क्रोध को कर्मसत्ता बरदाश्त करेगी ही नहीं।

ऐसे अनेक मर्मस्पर्शी वाक्य हमारे मानसपट पर अंकित करने योग्य हैं, घर में एवं कार्यालय में बोर्ड पर लिखकर रखने जैसे हैं। ऐसे अनेक सुंदर वाक्यों से परिपूर्ण इस पुस्तक में कर्म को न्यायाधीश क्यों मानें? चारित्र्य खोया तो सर्वस्व खोया – कैसे? कुदरत का गेम शो, पेट्रोल, पानी, चिनगारी इत्यादि अनेक बातें हेतुपूर्वक एवं तर्क सहित अनेक दृष्टांतों के साथ इतने सुंदर ढंग से समझाई है कि हृदय के स्थान पर अगर पत्थर हो तो ही प्रवेश नहीं कर सकतीं।

पूज्यश्री ने प्रसिद्ध – अप्रसिद्ध दृष्टांत हमारे सामने केवल रखें नहीं है, विशद चर्चा भी की है, फिर चाहे वह अग्निशर्मा की कथा हो या नागकेतु का उदाहरण।

पूज्यश्री की प्रज्ञा ऐदंपर्यार्थगामी है। उनकी प्रतिभा तत्त्वोन्मेष की नूतन क्षितिजों का स्पर्श करनेवाली है तथा उनकी करुणा निरंतर बहनेवाली गंगा है। तत्त्वचिंतन उनका शौक या व्यवसाय नहीं – सहजसिद्ध स्वभाव है।

'हंसा तू झील मैत्री सरोवर में' पुस्तक अत्यंत लोकप्रिय बनी है। अनेक लोगों के मन में स्थित क्रोध को विचलित कर सकी है यह पुस्तक, अत: मुझे लगता है कि अनेक लोगों के हृदयमंदिर में प्रवेश करके प्रतिष्ठित हुए इस क्रोध के लिए वहाँ से हटे बिना कोई चारा नहीं है। अब क्रोध के उत्थापन का उत्सव अनेक घरों में, अनेक लोगों के हृदय में मनाया जाएगा। क्षमादेवी की प्रतिष्ठा की आमंत्रण पत्रिका प्रत्येक व्यक्ति की आँखों पर पढ़ने को मीलेगी...

पूज्यश्री के ऐसे महान उपकार का स्वागत करने का, उनके उपकार का अंत:करणपूर्वक स्वीकार करने का एक ही मार्ग है – निरंतर अध्ययन – पठन, तत्काल चिंतन, तत्क्षण अमल! और... दूसरे लोगों को इसकी प्रभावना...!

– अजितशेखरविजय

मातंग सिद्धायिका परिपूजिताय श्री वर्धमान स्वामिने नम:
श्री विजय प्रेम-भुवनभानु-जयघोष-धर्मजित्-जयशेखर सूरीशेभ्यो नम:

दो शब्द

सूर्यास्त का समय निकट है। शिष्य हाथ में जल का पात्र लेकर गुरुभगवंत को विनंति कर रहा है : 'गुरुदेव! पानी पी लीजिए...।' परंतु गुरुदेव किसी अर्थगंभीर चिंतन में मग्न, मन में त्वरित गति से चल रहे विचारों को कलम के सहारे कागज़ पर अंकित करने में व्यस्त हैं। 'यह एक चिंतन शब्दबद्ध कर लूँ, अन्यथा कहीं विलीन हो जाएगा...' एक बार ... दूसरी बार... तीसरी बार...शिष्य बोलता रहा... पानी पात्र में ही रह गया... सूर्य अस्त हो गया...।

ऐसा तो आज ही नहीं, एक बार नहीं... अनेक बार जिनके जीवन में हुआ है वे महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज आज से प्राय : ३२५ वर्ष पूर्व भारतकी धरती पर विचरण करते थे। जैन धर्मग्रंथों का तो उन्होंने गहन अध्ययन किया ही था साथ साथ बौद्ध, वेदान्त आदि धर्मग्रंथों का भी उतना ही – आद्यांत अध्ययन उनका था। सैंकडों ग्रंथों की स्वयं रचना भी की थी। संपूर्ण जीवन शास्त्रों की उपासना में व्यतीत करने के पश्चात् जीवन के संध्याकाल के समय में उन्होंने एक अद्‌भुत ग्रंथ की रचना की – 'ज्ञानसार'...

इस ग्रंथ के एक श्लोक का पूर्वार्ध है :

साम्यं बिभर्ति य: कर्मविपाकं हृदि चिन्तयन्...

अर्थात् – जो व्यक्ति हृदय में कर्म के विपाक का चिंतन करता है वह समता धारण करता है।

बात बात में चिंता, तनाव, अवसाद आदि का शिकार हो रहे वर्तमान युग के मनुष्यों के लिए एक अकसीर इलाज है – कर्म के विपाक का चिंतन – सारी दूनियाँ में ढूँढ लेने पर भी या लाखों रुपये खर्च कर लेने के बाद भी मन की शांति या स्वस्थता का जो उपाय हाथ न आ सके ऐसा अचूक उपाय यह है। परंतु सबसे बड़ी कठिनाई की बात यह है कि मानव ने बुद्धि का महत्त्व इतना बढ़ा दिया है और श्रद्धा को अंधश्रद्धा कहकर उसका अवमूल्यन कर दिया है। इस कारण से अतीन्द्रिय कर्म का स्वीकार दुर्लभ हो गया है, फलत: एक गोड्‌गिफ्ट जैसे चमत्कारपूर्ण उपहार से वह सेकडों योजन दूर चला गया..।

लेकिन कोई बात नहीं। कंटक को दूर करने के लिए कंटक ही प्रयुक्त किया जाता है... श्रद्धा के सहारे नहीं... बुद्धि से... तर्क के द्वारा अगर सिद्ध किया जाय तब तो कर्म के सिद्धांत का स्वीकार करेंगे या नहीं? कर्मविज्ञान के पीछे शतप्रतिशत प्रबल

तर्कशास्त्र है ही। उस तर्क को आज की भाषा में व्यक्त करने का प्रयास यानि प्रस्तुत पुस्तक – 'जेलर'। इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया तर्क कितना श्रद्धाजनक है और स्वयं कितना तर्कातीत है यह तो पुस्तक के पृष्ठ ही कहेंगे।

मन का शांत रहना या अशांत रहना इसका आधार परिस्थितियाँ होतीनहीं है। मन को अत्यंत विक्षुब्ध – व्यथित कर देनेवाली परिस्थिति में अंशमात्र भी परिवर्तन भले ही न हुआ हो फिर भी उचित रूप से परिवर्तित की गई विचारधारा मन को शांति से भर देती है। प्रत्येक वाचक से यह अनुरोध करता हूँ कि इस वास्तविकता का स्वयं अनुभव करें।

सामान्य रूप से साहित्य में पुनरुक्ति – (बात को दोहराना) दोषरूप माना जाता है। परंतु रोग के उपचार के लिए दवा बार बार लेना आवश्यक होता है और यह लाभप्रद होता है। प्रस्तुत पुस्तक भी मानसिक उपचार स्वरूप ही है और इसी कारण से कुछ बातें – जैसे कि अग्निशर्मा की कथा– कुछ भिन्न भिन्न संदर्भ में अनेक बार कही गई है, वह उस कथनीय तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए होने के कारण लाभदायक ही सिद्ध होंगी' ऐसी श्रद्धा है।

प्रस्तुत पुस्तक को

केवल देखना नहीं है, आत्मसात् करना है। केवल पढ़ना नहीं है, उसका रटन करना है। पढ़ कर केवल आनंद प्राप्त करना नहीं है, जीवन में उसका अनुसरण करना है।

अगर ऐसा होगा तो... अंत:करण में से अपूर्व शांतरस की अपूर्व ऊर्मियाँ उठेंगी और आप उसका स्पष्ट अनुभव कर सकेंगे।

'हंसा! तूं झील मैत्री सरोवर में' पुस्तक से हजारों जैन – जैनेतर लोगों के हृदय में शांति की लहरें उठी हैं, यह पुस्तक उन लहरों को अधिक दृढ एवं चिरस्थायी बनाने में सहायक होगी। इस बात में शंका के लिए कोई स्थान नहीं है।

परमब्रह्ममूर्ति स्व.पू.आ.श्री विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज, अप्रमादमूर्ति स्व.पू.आचार्य विजय श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज, जीवंत ज्ञानमूर्ति प.पू. आचार्य गच्छाधिपति श्री विजय जयघोषसूरीश्वरजी महाराज, सरलतामूर्ति स्व. पू. आचार्य श्री विजय धर्मजित् सूरीश्वरजी महाराज, श्री सूरिमंत्र साधनामूर्ति स्व. पू. आचार्य श्री विजय जयशेखर सूरीश्वरजी महाराज...। इस सुविहित गुरुपरंपरा की निरंतर बरसती कृपा ही इस निबंध के यश की वास्तविक हकदार है और उसके बाद – दूसरे स्थान पर हकदार है सहवर्ती शिष्यवृंद का प्रत्येक कार्य में प्राप्त होनेवाला भक्तिपूर्ण सहकार।

आचार्य श्री विजय अजितशेखरसूरीश्वरजी ने यह निबंध साद्यंत पढ़ा है और अनेकविध सूचनों के साथ सुंदर प्रस्तावना लिख कर उसे अलंकृत किया है। धन्यवाद।

अनेकविध पीडारूप सज़ा सहन करने के बाद भी नई सज़ाओं की संभावना उपस्थित करने के नुकसानकारक व्यापार में से बाहर निकल सकें... एक सज़ा सहन कर के दस सज़ा से मुक्ति पा कर भव्य पुरस्कार प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त की जा सके... और इन दोनों से कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु... क्षमा और समता की साधना करते हुए वीतरागता प्राप्त की जा सके... इन सब के श्रेष्ठ उपायों को जानने के लिए, जीवन में अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत प्रकाशन का उपयोग सब करें ऐसी करुणायुक्त प्रेरणा के साथ

चैत्र शुक्ला १, वि.सं. २०६७, भायंदर – आ. अभयशेखर सूरि

समर्पण

'अमीचंद की अमीदृष्टि'

'गुणसेन – अग्निशर्मा' आदि पुस्तक एवं दिव्यदर्शन साप्ताहिक के अनेक अग्रलेखों के द्वारा अनेक वैरी जनों की वैरभावना को क्षमा एवं मैत्री में परिवर्तित करा देनेवाले स्व.पूज्य गुरुदेवश्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज को, उनके अत्यंत प्रिय विषय क्षमा – मैत्री विषयक उनके ही विचारबीज में से पल्लवित एवं विकसित यह निबंध उनको श्रद्धा, आदर एवं भक्ति सहित समर्पित करते हुए आनंद का अनुभव कर रहा हूँ।

– अभयशेखर

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः
मातंगसिद्धायिका परिपूजिताय श्री वर्धमानस्वामिने नमः
श्री विजय प्रेम - भुवनभानु - जयघोष - धर्मजित् - जयशेखरसूरीश्वरेभ्यो नमः। ऐं नमः

१. जेलर

संतपुरुष ने सभा से कुछ प्रश्न पूछे :

संत : सुख किसको चाहिए?

सभा : सभी को... गरीब हो या अमीर, रोगी हो या निरोगी... शिक्षित हो या अशिक्षित... सुख सभी को चाहिए।

संत : सुख कब चाहिए? दिन में या रात में? सुबह या शाम?

सभा : बारह महीने... चौबीसो घंटे...।

संत : दु:ख किसको चाहिए? कब चाहिए?

सभा : दु:ख किसीको नहीं चाहिए। कभी भी नहीं चाहिए...

संत : दूनियाँ में लाखों कंपनियाँ हैं। सामान्य नियम से कोई भी कंपनी कैसा माल बनाना चाहेगी?

सभा में से कुछ लोग : श्रेष्ठ तम माल...

कुछ अन्य लोग : अधिकतम मुनाफा हो ऐसा माल..

संत: नहीं, माल चाहे कितना भी अच्छा हो या प्रोफिट वाला हो, परंतु उसकी मांग ही न हो तो? अत: सामान्य नियम यह है कि कोई भी कंपनी वही माल बनाना चाहेगी जिसकी बाजार में मांग हो। जिसकी डिमान्ड ही न हो ऐसा माल कोई भी कंपनी कभी भी बनाती नहीं है। तो कुदरत नाम की कंपनी दु:ख नामक माल का सर्जन क्यों करती है? जब दु:ख नामक माल की बाजार में बिलकुल मांग ही नहीं है। कोई मुफ्त में देना चाहे तो भी कोई उसे हाथ में लेने को भी तैयार नहीं है। सब को सुख और सुख ही चाहिए। अत: यह प्रश्न तो ऊठता ही है कि, जब एक भी जीव दु:ख चाहता नहीं है तो कुदरत दु:ख देती क्यों है? अलबत् इस प्रश्न का शास्त्रीय जवाब 'कर्म' तो है ही, परंतु इस प्रश्न का उत्तर लोकभाषा में प्राप्त करना है, और उस के लिए किसी कारागृह का सर्वेक्षण करना पड़ेगा।५०-१००-२०० जितने भी कैदी वहाँ हो, उन सब से यह प्रश्न करना चाहिए - 'बोलो,

आप में से सजा किसे चाहिए?' उत्तर क्या मिलेगा?

'किसी को नहीं।'

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब एक भी कैदी सज़ा नहीं चाहता तो न्यायालय उसे सज़ा क्यों करता है?

'उसने अपराध किया है इसलिए उसे सज़ा दी जाती है।'

सही है... अत: यह सूत्र निश्चित होता है कि 'बिना अपराध सज़ा नहीं।' अगर सज़ा हो रही है तो अपराध अवश्य होगा। और यह योग्य भी है, क्यों कि जब सज़ा देखने को मिलती है तब हमें कल्पना अपराध की ही आती है। जैसे कि पड़ौस के घर से आवाज़ आ रही है... पिता मार रहे हैं, पुत्र रोता हुआ चिल्ला रहा है। पुत्र ने क्या किया है यह हमें पता न हो तो भी हमें कल्पना अपराध की ही आती है कि, परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा होगा, किसी चीज़ को नुकसान पहुंचाया होगा, या मातापिता का अनादर किया होगा ...।

पशु के गले में एक लकड़ा बाँध दिया जाता है जो उसके पैर से टकराता रहता है और चोंट करता रहता है। पंद्रह - बीस पशुओं में से किसी एक पशु के गले में ऐसा लकड़ा देखने को मिलता है तब हमें यही कल्पना आती है कि यह प्राणी मालिक के वश में नहीं रहता होगा, इसलिए उसे ऐसी सज़ा दी गई है। अर्थात् सज़ा तो किसी अपराध की ही दी जाती है, अत: 'बिना अपराध सज़ा नहीं' यह बात तो नि:शंक है।

अब इससे भिन्न परिस्थिति के विषय में सोचें। पिता पुत्र को मार नहीं रहा है... उसकी प्रशंसा कर रहा है... उसको कुछ इनाम दे रहा है। यह देख कर हम क्या कल्पना करेंगे?

'पुत्र ने कुछ अच्छा कार्य किया होगा।'

अत: दूसरा सूत्र निश्चित होता है -

'बिना सत्कार्य, इनाम नहीं।'

ज्ञानी पुरुष कहते हैं - इन दोनों सूत्रों को हमें अपने जीवन के संदर्भ में भी देखना चाहिए। शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक इत्यादि अनेकविध परिस्थितियों का संकलन... यही है हमारा जीवन। इनमें से जो जो परिस्थितियाँ सुखद हैं, संतोषप्रद हैं ये सब कुदरत द्वारा दिये गए पुरस्कार हैं... इनाम हैं...

अवश्य हम इसके योग्य सत्कार्य करके आए हैं। और जिस परिस्थिति में हम कष्ट उठा रहे हैं, परेशान हो रहे हैं, जिसके लिए हम फरियाद करते हैं कि

ऐसा क्यों हो रहा है? ऐसी कष्ट प्रद परिस्थितियाँ कुदरत द्वारा हमें दी गई सज़ा है। अवश्य हम कुछ ऐसे अपराध करके आये हैं।

एक मनुष्य... खानेपीने के विषय में इतनी सावधानी रखनेवाला... यह खाऊँगा तो बी.पी. बढ़ जाएगा... यह खाऊँगा तो सुगर... यह नहीं खाना है और वह भी नहीं खाना है। इतनी सावधानी बरतता है कि कभी कभी तो खाने की वस्तुओं से न खाने की वस्तुओं की सूची लंबी हो जाती है। और फिर भी 'आज सुगर बढ़ गई है ...' और 'आज थोड़ा बुखार है'... प्रतिदिन कोई न कोई तकलीफ रहती ही है। ... और एक दूसरा मनुष्य... किसी भी प्रकार की सावधानी की बात ही नहीं। जब इच्छा हुई, जो इच्छा हुई, खा लेता है। फिर भी पूर्णतः स्वस्थ - निरोगी। कभी कोई फरियाद नहीं। ऐसा देखने को मिलता है?

सभा : मिलता है...।

ऐसा देखने को मिलना चाहिए? स्वास्थ्य का ध्यान रखनेवाला निरोग रहना चाहिए या ध्यान नहीं रखनेवाला? फिर ऐसा विपरीत क्यों देखने को मिलता है? कहिए, इस दूसरे आदमी को कुदरत आरोग्य का पुरस्कार देना चाहती है। 'जो मन में आये, खा - पी, तेरा स्वास्थ्य अच्छा ही रहेगा।' अरे! कुदरत तो यह कहती है- 'तू पत्थर खाएगा तो उसे भी हजम करने की क्षमता मैं तुझे दूँगी। पथरी होने नहीं दूँगी, क्यों कि मैं तुझे आरोग्य का इनाम देना चाहती हूँ।' और पहले इन्सान को वही कुदरत कहती है 'तुझे शांति से जीने नहीं दूँगी। प्रतिदिन कोई न कोई तकलीफ - पीडा तुझे सहन करनी ही है।'

एक युवक पढ़ा - लिखा -अनुभवी और उचित आयोजन के साथ व्यापार करनेवाला फिर भी धन न कमा सका। और एक दूसरा युवक... अधिक पढ़ा - लिखा नहीं, कोई प्लानिंग नहीं, इच्छानुसार व्यापार करनेवाला... और फिर भी देखते ही देखते श्रीमंत बन गया। ऐसा भी दुनिया में देखने को मिलता है? क्यों? कहो, कुदरत इस दूसरे युवक को मानों कह रही है.. 'मैं तुझे संपत्ति का उपहार देना चाहती हूँ। भले ही तुने बिना किसी योजना के व्यापार किया, मैं तेरे आसपास के लोगों को और परिस्थितियों को इस प्रकार से अनुकूल बना दूँगी कि तुझे लाभ ही लाभ होगा।' और वही कुदरत उस पहले युवक को मानों कह रही है 'तुने भले ही पूरे आयोजन के साथ व्यापार किया होगा परंतु मैं तुझे कमाने देना नहीं चाहती। मेरी शक्ति असीम है। तेरे अत्यंत विश्वसनीय दलाल को विश्वासघात करने को प्रेरित करूँगी... बाज़ार का रुख बदल दूँगी... अरे! आवश्यकता पड़ने पर सरकार की नीति को ही परिवर्तित कर दूँगी। किसी भी तरह तुझे लाभ प्राप्त करने नहीं दूँगी क्यों कि मैं तुझे दरिद्रता की सज़ा देना

चाहती हूँ।' किसीको प्रथमप्रयास में ही सफलता, और किसीको अथक - अनेक प्रयासों के बाद भी अपेक्षित सफलता तो नहीं ही मिलती।

किस कारण से एक को पुरस्कार और दूसरे को सज़ा? कुदरत के लिए कौन अपना और कौन पराया? कहो, जिन्होंने सत्कार्य किए है उन्हें कुदरत पुरस्कार देती है। जिन्होंने अपराध किए हैं उन्हें कुदरत सज़ा देती है।

एक आदमी ने चोरी की, डाका डाला। अरे! किसीकी हत्या भी की। पुलीस ने उसे पकड़ा। उसका कोर्ट में केस चला और न्यायाधीश ने दंड दिया - दस साल की सख्त कैद और प्रतिदिन दस कोडे ..

जेलर ने उस कैदी के पास सुबह से शाम तक सख्त परिश्रम करवाया। शाम होते ही वह हंटर लेकर आया और बोला 'चल कोडे खाने के लिए तैयार हो जा।' अगर कैदी यह कहे ''मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? मैं कोई मार खानेवाला नहीं हूँ। मैं भी हंटर लेकर तुम्हें मारुंगा...।' तो उसकी सज़ा कम कर दी जाएगी या बढ़ा दी जाएगी?

सभा - बढा दी जाएगी।

क्या कैदी की बात गलत है? उसने जेलर का क्या बिगाड़ा है? वह तो कह सकता है, ''मैंने जिसके घर में चोरी की है वह भले मुझे मारे, तू क्यों मारता है? तेरे घर में मैंने थोड़े ही चोरी की है?'' तो फिर कैदी को जेलर की मार क्यों खानी चाहिए? और अगर इस प्रकार के दंड का वह विरोध करे तो सज़ा में वृद्धि क्यों की जाती है?

सभा - 'जेलर तो न्यायालय के आदेश से मारता है।'

सही है। कैदी को समझना चाहिए कि जेलर अपनी इच्छा से नहीं, न्यायालय का आदेश है इसलिए मार रहा है।

अगर केन्द्रसरकार ऐसा प्रस्ताव पारित करना चाहे कि पूरे देश में न कोई न्यायालय हो, न कारागार हो, न कोई जेलर हो, न कोई सज़ा हो। जिसको जो करना है करे, कोई सज़ा नहीं होगी... अगर ऐसा कोई प्रस्ताव सरकार लाना चाहे और हमारी राय जानना चाहे तो हम इसके लिए हाँ कहेंगे या ना?

सभा -अवश्य ना ही कहेंगे।

क्यों? क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसा करने से देश में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं रह सकती। सर्वत्र अराजकता फैल जाएगी। हमारे लिए भी शांतिपूर्ण जीना असंभव हो जाएगा। इसका अर्थ यह है कि अगर देश में व्यवस्था कायम है, तो न्यायालय व्यवस्थित रुप से सक्रिय है और आज भी कोर्ट जितने

अंशों में निष्क्रिय है उतने अंशों में देश में अराजकता है ही। जिस प्रकार देश में उसी प्रकार संपूर्ण विश्व में - समस्त ब्रह्मांड में भी व्यवस्था तो स्थापित है ही। तो निश्चित रूप से इस पूरी दूनियाँ में कोई न्यायालय सक्रिय होना ही चाहिए। इस न्यायालय का नाम है कर्मसत्ता। भारत सरकार तो केवल मनुष्यों को ही अपने प्रजाजन मानती है। इस कर्मसत्ता का न्यायालय स्थापित करनेवाली कुदरत का शासन तो मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षी, कीड़े - मकोड़े आदि क्षुद्र जंतुओं को एवं वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों को.. जीवमात्र को अपनी प्रजा मानती है। इनमें से कोई भी जीव छोटा - बड़ा - जैसा अपराध करता है ऐसा दंड कर्मसत्ता का यह न्यायालय देता है। परंतु...?

न्यायालय का कार्य तो केवल सज़ा निश्चित करना है कि दस कोडे लगाए जाऐं इत्यादि... न्यायाधीश स्वयं कारागार में आकर कैदी को कोडे मारता नहीं है। सज़ा का अमल करने का कार्य तो जेलर का है। उसी प्रकार कर्मसत्ता का न्यायालय भी केवल सज़ा निश्चित करता है। तो उसका अमल करनेवाला जेलर कौन?

ज्ञानीपुरुष कहते हैं कि यह जेलर सगा भाई भी हो सकता है या भतीजा भी हो सकता है या फिर भागीदार, नौकर या पडोसीभी हो सकता है। सास भी हो सकती है या बहू भी। देवरानी भी हो सकती है या जेठानीभी। हाँ, हमारे आसपास रहनेवाले सभी जीव इस कर्मसत्ता के न्यायालय के कर्मचारी जेलर हैं। इनमें से किसी भी जेलर को यह सर्वोच्च सत्ता आज्ञा देती है - 'जा, इस मनुष्य को गाली देकर आ।' वह तो आपको गाली देना चाहता नहीं था। लेकिन वह तो चिट्ठीका चाकर। आपको गाली देकर चला गया। दूसरे किसी मनुष्य को हुक्म दिया - 'इसे एक थप्पड़ मारना है।' उसने आपको एक थप्पड़ पेश कर दी। इसी कर्मसत्ता ने किसीसे कहा, 'इस व्यक्ति ने ऐसा गुन्हा किया है, जिसके दंड के रूप में उसे एक लाख रुपये का नुकसान पहुँचाना है।' '**Obey to Order**' उस जीव ने आपके व्यापार में ऐसी गडबड कर दी कि आपको एक लाख रुपये का घाटा हो गया।

गाली देनेवाला, थप्पड़ मारनेवाला या नुकसान पहुँचानेवाला... आखिर ये सब जेलर ही हैं। इसलिए गाली देनेवाले को अगर हम यह कहें कि 'भले आदमी! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है कि तू मुझे गाली दे रहा है? तू मुझे गाली देगा तो मैं भी तुझे गाली दूँगा।' तो सज़ा बढ़ेगी या कम होगी?

सभा - 'बढ़ेगी।'

'हमें सज़ा बढ़ानी है या कम करनी है?'

'कम करनी है।'

अगर कम करनी है तो उसके लिए क्या करना चाहिए? कैदी का ही संदर्भ लीजिए।

अगर वह हंटर लेकर प्रहार करने का प्रयास करे तो सज़ा में वृद्धि होती है। शायद वह वापस प्रहार न करे परंतु प्रतिकार करे या पलायन करे तो भी सज़ा में वृद्धि होती है। अरे, वह मार खाए लेकिन खूब धाँधली मचाए तो भी सज़ा में कमी नहीं होती। सज़ा कम करवाने के लिए तो कैदी के पास केवल एक उपाय है - चुपचाप मार खा लेना।

उसी प्रकार कर्मसत्ता के न्यायालय द्वारा दी गई सज़ा को कम करवाने का भी केवल एक ही उपाय है और वह उपाय है - शांतिपूर्वक - धैर्य के साथ सहन कर लेना।

प्रश्न : लेकिन एक गाली के प्रत्युत्तर में अगर दो गालियाँ देने की ताकत हमारे पास हो तो फिर हम क्यों सहन कर लें?

उत्तर : ऐसे तो कभी कभी कैदी जेलर की तुलना में कहीं अधिक बलवान, पहलवान जैसा हट्टा - कट्टा भी हो सकता है। फिर भी अगर सज़ा बढ़ानी न हो तो उसे शांतिपूर्वक सब कुछ सहन करना ही पड़ता है ना?

मैं आपसे पूछता हूँ कि 'प्रभु महावीर के कानों में कीले ठोंकनेवाले ग्वाले की शक्ति अधिक थी या प्रभु महावीर की?

'प्रभु महावीर की।'

तो फिर प्रभु ने उसे कानों में कीले क्यों मारने दिये? ''यहाँ आ, तू मेरे कानों में कीले मारना चाहता है?'' इतना कहते हुए उसीके कानों को उमेठा होता तो चीखता - चिल्लाता हुआ कहीं भाग जाता। न तो प्रभु ने ऐसा कोई प्रहार किया, न प्रतिकार किया, न वहाँ से पलायन किया। शांतिपूर्वक शूल डाले जाने की भयंकर पीड़ा सह ली। किस लिए? क्यों कि प्रभु जानते थे कि यह तो केवल जेलर है! मेरे ही अपराध की कर्मसत्ता द्वारा दी गई सज़ा का अमल करनेवाला। ग्वाले पर प्रतिकार रूप प्रहार करके मैं अपनी सज़ा को बढ़ाना नहीं चाहता...।

प्रभु का अपराध क्या था यह तो आप जानते हैं ना?

अठारहवें भव में प्रभु का जीव तीन खंड के सम्राट त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में था। रात्रि के समय निद्रा नहीं आ रही थी। अत: संगीतकारों को बुलाया। 'मंद, मधुर संगीत बजाइये, मैं सोना चाहता हूँ।' किंतु राजा जानते थे कि ये तो संगीतकार हैं। संगीत में लीन हो गए तो राजा सो गए हैं या जाग रहे हैं इस बात

का ध्यान इन्हें नहीं रहेगा। इसलिए, इस बात का ध्यान रखने का उत्तरदायित्व शय्यापालक को सौंपा। 'तू ख्याल रखना, मुझे निद्रा आ जाए तो इन लोगों को बिदा कर देना।' संगीत शुरू हुआ। थोड़े ही समय में राजा सो गए। शय्यापालक ने देखा कि राजा सो गए हैं, परन्तु अत्यंत कर्णप्रिय संगीत सुनने का लोभ हुआ। पांच मिनीट के लिए सुन लूँ, फिर इन कलाकारों को बिदा कर दूँ। 'राजाजी तो अभी ही निद्राधीन हुए हैं। इतना जल्दी थोड़े ही जाग जायेंगे?' संगीत चलता रहा। पांच मिनीट हो गई, क्या शय्यापालक को संतोष हो जायेगा?

आपके जीवन में भी ऐसा ही होता है ना? एक और दुकान जाने का समय हुआ हो और दूसरी ओर टीवीपर आई.पी.एल. मेच का सीधा प्रसारण हो रहा हो। आप ने सोचा - दो ओवर देख लूँ फिर चला जाऊँगा दुकान। तो क्या दो ओवर देख कर आप खड़े हो जाओगे?

सभा - जी नहीं। कभी कभी दो से बारह भी हो जाए। फिर बारह की बीस भी हो सकती हैं और दूसरी टीमकी भी बीस हो सकती हैं। ऐसे ही पूरा मेच ही खतम हो सकता है।

इस बात से कम से कम हमें इतना तो समझ लेना चाहिए कि इन्द्रियाँ जीव को गुलाम बनाती हैं। इन्द्रियाँ मानों जीव को कहती हैं - 'तुने भले तय किया कि दो ओवर होते ही खड़ा हो जाऊँगा। परंतु अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए तू स्वतंत्र कहाँ है? जब तक मैं संमति नहीं देती तब तक तू खड़ा नहीं हो सकता।'

शय्यापालक का भी वही हाल हुआ। अभी कुछ पल और सुन लूँ... और कुछ पल... और कुछ पल.... और कुछ देर में राजा की निद्रा खुल गई... वह जाग गया।

बीच में एक प्रश्न - संगीत से नींद आती है या उड जाती है?

'आती है।'

'तो फिर राजा कैसे जाग गया?'

'उड जाती है।'

तो फिर निद्रा पाने के लिए संगीतकारों को क्यों बुलाया था? वास्तविकता तो यह है कि संगीतश्रवण से निद्रा आ भी सकती है और टूट भी सकती है। जितना आवश्यक हो उतना संगीत सुना जाय तो नींद आती है, आवश्यकता से अधिक हो जाय तो नींद टूट भी सकती है। यही नियम हरेक बात को लागु होता है। आवश्यकतानुसार प्रत्येक वस्तु का उपयोग लाभदायक बनता

है। उस सीमा से अधिक हो गया तो हानिकर्ता हो जाता है। जैसे कि आप प्रतिदिन छ :रोटी खाते हैं। जन्मदिन के अवसर पर अगर बारह रोटि याँ खा लें तो लाभ या नुकसान?

सभा - नुकसान।

आप जूते बनवाना चाहते हैं। मोची ने माप लेकर कहा, 'सेठ जी! नौ इंच।'

आप अगर मोची से कहें - 'भाई! नौ क्यों? दस इंच का ही बना दे।' तो आपको सुविधा होगी या असुविधा...? 'असुविधा...' अर्थात् यह नियम सही है ना कि प्रत्येक वस्तु का उपयोग आवश्यकतानुसार किया जाय तो ही लाभदायक होता है। उससे अधिक हो जाये तो हानिकारक।अब एक प्रश्न...

मान लीजिये कि आपका महीने का खर्च पंद्रह हज़ार रूपये हैं और आप कमाते हैं एक लाख पंद्रह हजार रूपये। तो लाभ या नुकसान? 'अति सर्वत्र वर्जयेत्। यह नियम रूपयों को - धन - संपत्ति को भी लागू पड़ेगा या नहीं? पाँच - पच्चीस करोड या उससे भी अधिक संपत्ति इकट्ठी करनेवाले प्राय : अनेक प्रकार की हानि भोगते हैं। किंतु उसे समझने के लिए भी दृष्टि चाहिए।

बिलकुल छोटे से, पिछड़े गाँव में अत्यंत दरिद्र अवस्था में जिसका बचपन बीता था ऐसा एक युवान अपना भाग्य आज़माने हेतु शहर में आया और मानों उसका सितारा चमक उठा।क्रमश: आगे बढ़ते बढ़ते अत्यंत धनवान बन गया। उसका एक पुत्र था। राजमहल जैसा निवासस्थान था। मध्य में स्वीमिंग पुल, विशाल बगीचा और बगीचे को संभालनेवाला माली भी था। छोटे- बड़े - प्रत्येक कार्य के लिए नौकर थे, खाना बनानेवाला रसोईया भी था। पुत्र के लिए कुत्ता भी पाल रखा था। पानी माँगने पर दूध हाज़िर हो जाता। आवाज़ देने पर एक नहीं, चार नौकर आ कर खड़े हो जाते। ऐसी समृद्धि और सुविधाओं में पल रहा पुत्र चौदह वर्ष का हो गया। पिता ने सोचा - गरीबी भी जीवन का एक पहलू है। मैंने तो इसका अनुभव किया है। पुत्र को भी इसका अनुभव होना चाहिए। इसलिए उसे किसी गरीब परिवार में - एक सप्ताह के लिए रखना चाहिए। मौज़ - शौक के साधन तो बिलकुल नहीं, सामान्य सुविधाएँ भी वहाँ न हों। आवश्यक वस्तुओं में भी काफी कमियाँ हों। जीवन कैसा संघर्षपूर्ण है इस बात का ज्ञान उसे तब ही मिलेगा। अपने ही गाँव के एक परिचित गरीब परिवार में उसे छोड़ आये। जंगल के छोर पर नदी के तट पर बसा हुआ यह गाँव अत्यंत छोटा था। संदेशव्यवहार के कोई भी साधन वहाँ उपलब्ध नहीं थे। सप्ताह बीत जाने पर पिता पुत्र को वापस लेने उस गाँव में गए। पुत्र से पूछा, 'बेटे, तुझे यहाँ अच्छा

लगा?'

पुत्र ने उत्तर दिया, 'डेडी,इन लोगों की जीवन प्रणाली और हमारी जीवन प्रणाली में जमीन- आसमान का अंतर है। हमारे घर में तो छोटा सा स्वीमिंग पुल और उसमें क्लोरिन की बासवाला पानी - बासी पानी। मेरी तो आँखों में हंमेशा जलन होती थी। यहाँ तो इस झोंपड़ीके पीछे ही नदी। निरंतर बहता पानी। कितना ताज़ा और प्राणवंत। पप्पा! मुझे तो नहाने का इतना मज़ा आता था! और हमारे घर में तो एक ही कुत्ता है। यहाँ तो चार कुत्ते मेरे मित्र बन गए हैं। और न इन्हें नहलाने का, न घूमने ले जाने का कोई बोझ! इसके अलावा दो तोते, कौए और खरगोश भी। इन सब के साथ खेलने का मज़ा तो कुछ और ही है!

और पप्पा! हमारे घर में तो रात के समय खिडकियाँबंद करके ए.सी. चालू करना होता है। यहाँ तो हम सब खुले आकाश के नीचे - बाहर ही सो जाते थे। चांदनी का प्रकाश, मधुर मंद पवन और तारों की चदर... इतनी अच्छीनींद आ जाती थी। और पप्पा! मजे की बात तो यह है कि यहाँ तो पूरा परिवार साथ ही सो जाता है। सब को एक - दूसरे का प्रेम भरा साथ। हमारे घर में तो मेरा कमरा अलग, दीदी का कमरा अलग और आपका कमरा अलग...। कौन कब आता है और कब जाता है? कब सोता है और कब जागता है? क्या करता है या क्या नहीं करता है? किसी को अन्य व्यक्तियों के विषय में कुछ भी जानने की आवश्यकता ही नहीं। मानों किसीका किसीके साथ कोई संबंध ही नहीं है। यहाँ तो एक दिन इस भाई को बुखार आ गया। शरीर तो ऐसा तप रहा था कि बस! सारे परिवार के लोग तुरंत जग गए। सब जग गए तो मेरी नींद भी खुल गई। नींद उड़ गई तो समझने का मौका मिला कि पारिवारिक जीवन क्या होता है! एक पैर दबाने लगा तो एक सिर दबाने लगा। मौसीजी ठंडेपानी की पट्टीसिर पर रखने लगी। सच मानिये पिताजी! इन सब की सेवा के कारण नहीं, बल्कि सेवा के साथ साथ जो प्रेम और जो सहानुभूति और ममता झलक रही थी, उसीकी वज़ह से भाई का बुखार एक घंटे में ही उतर गया। सुबह तक तो वह बिल्कुल फ्रेश हो गया।

पप्पा! एक दिन कक्षा में हमरे अध्यापक ने हमें प्रश्न पूछा था : Which is the best therapy of healing?

किसीने कहा : Allopathy

अन्य विद्यार्थी ने कहा : Homeopathy

किसीने Naturopathy प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का भी उल्लेख किया।

परंतु हमारे अध्यापक ने सभी उत्तरों को नकारते हुए कहा था - Sympathy सहानुभूति, और हमारे गुरुजी के - इस जवाब का साक्षात्कार पापा! मुझे यहाँ हुआ।

और हाँ पापा! एक महत्त्वपूर्ण बात तो मैं आपको बताना भूल ही गया। रात के समय सोने से पहले प्रतिदिन पूरा परिवार साथ बैठता है। दिन में हुए अपने अपने अनुभवों की बातें - इधर उधर की अनेक बातें उस समय होती हैं। इन बातों में एक दूसरे के प्रति इतना प्रेम और विश्वास दिखाई देता है! हमारे घर पर पूरा परिवार इस प्रकार कभी भी आधा घंटा इकट्ठा हो कर बैठा हैं? हाँ, कभी कभी सबका मनपसंद टीवीका सीरियल चल रहा हो तो सब टीवीके सामने बेठे होते हैं। लेकिन उस समय भी करुणता यह होती है कि पूरा परिवार साथ होते हुए भी कोई किसीके साथ कुछ बोलता नहीं। बातें करने का, दूसरों के मन की बात सुनने का कोई उत्साह ही किसी के मन में नहीं दिखाई देता। हाँ, सीरियल के पात्रों की बातें सुननी होती हैं। उनके सुख से सुखी और उनके दुःख से दुःखी होना होता है। मानों वे ही हमारे स्वजन हों! (वैसे तो अब इस प्रकार भी साथ बैठने की बात नहीं रही है। सब के कमरे में अपने अपने अलग टीवी। मनुष्य अगर खुले मन से विचार करे तो अनेक दृष्टि से ऐसा अनुभव निश्चित रूप से होगा कि अत्यधिक धनसंपत्ति भी आशीर्वाद नहीं, अभिशाप बन जाती है। पैसों के बल पर परिवार के प्रत्येक सदस्य की सभी वस्तुएँ -सभी सुविधाएँ अलग - स्वतंत्र। न सब के साथ मिलजुल कर बैठने की कभी आवश्यकता न किसीको किसी की कोई अपेक्षा। ऐसे वातावरण में स्नेह की धारा बहे ऐसी संभावना ही कहाँ?)

और पिताजी! भोजन की बात बताऊँ तो एक बात हमारे नसीब में है ही नहीं।

पिता - वह कौनसी वस्तु?

पुत्र - पिताजी! प्रेम... हमारे घर में तो महाराज के द्वारा बनाइ गई और फ्रीज़ में रख गई खाने की चीज़ें नौकर माइक्रोवेव में गरम करके हमें परोसता है। यहाँ तो आंटीजीही हमेशा गरमगरम खाना अपने हाथों से बना कर खुद खिलाती हैं। उस गरम गरम भोजन के साथ अपना प्रेम भी परोसती हैं। प्रेम के कारण प्रत्येक वस्तु स्वादिष्ट ही लगती है, प्रेम के बिना सब कुछ फीका। (एक युवान धन कमाने हेतु विदेश गया। लंबे समय तक वह वहाँ रहा, अनेक कठिनाइयोंका सामना किया, परंतु पुण्य ने साथ न दिया। बिना धन प्राप्त किये ही बेचारा वापस आ गया। भले कुछ भी कमाये बिना ही वह वापस आया था, परंतु माता किसे

कहते हैं? प्रेम से पुत्र का स्वागत किया। लंबे अर्से के बाद पुत्र वापस आया है। माता का उत्साह तो असीम था। बाज़ार गई। आम या केले खरीदने की तो ताकत नहीं थी। वह एक ककड़ी खरीद लाई। टुकडे कर कर के पुत्र को खिलाती रही। पुत्र भी उतने ही आनंदपूर्वक खाता रहा। अब आखिरी एक टुकड़ा रहा जो माता ने अपने मुँह में रखा। लेकिन यह क्या? ककड़ी इतनी कडवी!'अरे बेटा, तू कुछ बोला ही नहीं? कितनी कडवी है यह ककडी? माँ के ऐसे कहने पर पुत्र ने हँस कर कहा, 'माँ ककड़ी कडवी थी परंतु उसे परोसनेवाले हाथ और दिल कितने मिठे थे! फिर ककड़ी कैसे कड़वी लग सकती है?')

और पिताजी! हमारे शहर में तो दूध के पेकेट मिलते हैं और यहाँ तो प्रतिदिन दोनों समय ताज़ा दूध! देखिये ना, सात दिन में तो मैं केसा लाल टमाटर जैसा हो गया हूँ।

पिताजी! आपने बहुत अच्छा किया कि मुझे सात दिन यहाँ रखा। नहीं तो हम कितने गरीब हैं, परिवार के साथ रहते हुए भी कैसे परिवारविहीन और अकेले हैं इसका मुझे कभी अनुभव ही न होता। काश! मेरा जन्म भी किसी ऐसे ही संपन्न परिवार में हुआ होता !

अति संपन्न लोगों के जीवन में पारिवारिक जीवन और प्रेम का सर्वथा अभाव, विचित्र बिझनेस के कारण भोजन-निद्रा की अनियमितता और अतएव शरीरस्वास्थ्य का भी लगभग अभाव... सतत बढ़ते जाते लोभ के कारण सतत चिंता और लोभवश किये गए नये नये साहसों में से किसी एक में घाटा हो जाय, तो हृदय को ऐसा धक्का लगता है। कि मन एकदम अपसेट, टेन्शन...डिप्रेशन ऐसी अनेक समस्याएँ। और सुख तो क्या? सौ करोड में से डेढ़ सौ करोड और डेढ़ सौ करोड बढ़ कर दो सौ करोड हुए। बस इन अंकों में वृद्धि देखने का सुख, और फिर इन सब को छुपाकर रखने की बड़ी चिंता! स्वीस बेंकों में भारत के राजनेताओं के, अभिनेताओं के, क्रिकेटरों के व्यापारियों के पचहत्तर लाख करोड रुपये जमा हैं ऐसा कहा जाता है ना! अंकों को देख देख कर खुश होते रहो। इसके अतिरिक्त उन मालिकों को अपनी इस संपत्ति का कोई विशेष सुख मिलता होगा?

प्रश्न : संपत्ति हो तो सुकृत किये जा सकते हैं ना?

उत्तर : अहो भ्रांति:! विष से जीवन या मौत?

सभा -मौत।

प्रश्न -परंतु वैद्य के द्वारा दिया गया विष तो जीवनदाता बन सकता है ना?

सभा - बन सकता है... परंतु ऐसा किस्सा हजारों में एक बनता है, बाकी के

हजारों मृत्यु की गोद में सो जाते हैं। और जो एक - दो जीवित रहते हैं वे भी उस विष को वैद्य द्वारा संस्कारित किया गया है इस कारण से। अत: विष का परिणाम मौत ही है, जीवन नहीं।

... बस, इसी प्रकार संपत्ति के द्वारा पुण्य करनेवाले भी विरल ही होते हैं। अधिकांश मनुष्य तो पाप करनेवाले ही होते हैं। सुकृत करनेवालों के जीवन में भी सामान्यत : पैसों के द्वारा जितना सुकृत होता है उससे पाप अधिक ही होते हैं। अरे! दूसरे लोगों की बात क्या करे? मनुष्य को अपने ही जीवन के विषय में सोचना चाहिए कि संपत्ति में वृद्धि होने के बाद मेरे जीवन में पुण्यकार्य में वृद्धि हुई है या पाप में? जीवन के लिए अति आवश्यक हो उतनी आय से जो अधिक आय है वह अगर बंद हो जाय तो कितने पाप भी मेरे जीवन में से कम हो सकते हैं? प्रामाणिकता से यह चिंतन करने पर स्पष्ट रूप से यह अवश्य प्रतीत होगा कि संपत्ति में वृद्धि होने पर पाप 'दिन दोगुना रात चौगुना' की गति से बढ़ते हैं। अत: 'विष से जीवन' ऐसी बात को हम जिस प्रकार भ्रमणा कहेंगे उसी प्रकार पैसे हो तो सुकृत होगा... यह भी एक भ्रमणा ही है यह आप नि:शंक मान लें।

अस्तु। हम अपनी मूल बात पर वापिस आएँगे। अधिक समय तक चलनेवाले संगीत ने राजा की निद्रा में विक्षेप डाला। राजा ने शय्यापालक से पूछा, 'मुझे नींद आ गई थी इस बात का तुझे पता नहीं था?'

शय्यापालक - 'राजन्! आप निद्राधीन हो गए हैं यह बात मेरे ध्यान में थी परंतु...

राजा - परंतु क्या...?'

शय्यापालक - मधुर संगीत श्रवण का मुझे लोभ लग गया...

यह सुनते ही राजा के क्रोध की सीमा न रही। 'दुष्ट ! मेरी आज्ञा का महत्त्व है या तेरे सुनने का? अब तेरा सुनना ही बंद कर देता हूँ।' कहते हुए क्रोधित राजा ने सेवक के कानों में धधकता हुआ सीसा डलवादिया...। किसका जीव था यह? भावि तीर्थंकर भगवान महावीर का....। तो कर्मसत्ता तीर्थंकर की आत्मा को तो छोड़ देगी ना? 'भले ही तुने अपराध किया है। परंतु तू तो भगवान् बननेवाला... जा, तुझे कोई सजा नहीं।' बराबर?

'जी नहीं।'

'तो गणधर को छोडेगी?

'जी नहीं।'

'तो देवों को? इंद्रों को? राजाओं को? श्रीमंतों और बड़े लोगों को?'

'जी नहीं, कर्मसत्ता तो किसी को नहीं छोडती'।

'नहीं, मुजे लगता है कि कर्मसत्ता एक आदमी को अवश्य छोडती होगी...'

'वह कौन?'

'आप स्वयं...!'

'महाराज साहब! क्यों ऐसी कल्पना?'

मैं आपको समझाता हूँ। वर्तमान समय में हमारे देश के मंत्रियों के, बड़े बड़े अधिकारियों के घमंडी बेटे बेझिझक दुष्कृत्य करते हैं। क्यों? क्योंकि 'मेरे पिताजी मंत्री है, अतः मुझे सजा होगी नहीं' ऐसी उन्हें हूँफ है।

'जी, सही है।'

अतः हम ऐसा कह सकते हैं कि गुन्हा वही करता जिसे है सज़ा का भय न हो। अतः अवकाश मिला और टीवी के सामने बैठ गए... व्यापार में कदम-कदम पर विश्वासघात - माया, छल - प्रपंच। निमित्त मिला और क्रोध। इतने निश्चिंत हो कर आपको पाप करते देखता हूँ तो मुझे लगता है कि 'कर्मसत्ता अवश्य इन की मौसी लगती होगी इसलिए इनको किसी प्रकार का दंड नहीं करती होगी।' यह तो मेरी कल्पना है। अन्यथा, कर्मसत्ता किसीको छोड़ती नहीं है। उसने तो प्रभु वीर से भी कह दिया - 'तू भले तीर्थंकर बननेवाला है परंतु यह जो अपराध तुने किया है उसका दंड तो भोगना ही पड़ेगा, तैयार रहना।' और प्रभु के कानों में कीले ठोंके गए...।

मैं आप से एक प्रश्न पूछता हूँ। आपको सही उत्तर देना है।

प्रभु महावीर के कानों में कीले ठोंके गए क्यों कि (१) प्रथम विकल्प - प्रभु महावीर के कर्म दुष्ट थे, (२) दूसरा विकल्प - कीले ठोंकनेवाला ग्वाला दुष्ट था। कौन सा विकल्प सही है? 'कौन बनेगा करोडपति' इस गेम शो में अमिताभ बच्चन करोडपति हो गए, चेनलवाले करोडपति बन गए। आप लोगों में से कौन करोडपति बना? इस विश्व में कुदरत का भी एक Game Show चलता रहता है। ऐसे प्रश्न कुदरत के द्वारा भी हमारे समक्ष रखे जाते हैं। सही उत्तर के लिए करोड रुपये ही नहीं, हम कल्पना भी न कर सकें इतना बड़ा इनाम कुदरत हमें देती है। चलिए, अब उत्तर दीजिए, - प्रभु महावीर के कानों में कीले ठोंके गए, कारण (१) प्रथम विकल्प - प्रभु महावीर के कर्म दुष्ट थे। (२) दूसरा विकल्प - कीले ठोंकनेवाला ग्वाला दुष्ट था।

'प्रथम विकल्प, भगवान के कर्म दुष्ट थे।' 'सबका उत्तर यही है?'

'जी हाँ।'

'लॉक किया जाय?' 'किया जाय...'

आपका उत्तर पूर्णतः सही है। लेकिन अब, आप लोगों के जीवन से संबंधित प्रश्न पूछ रहा हूँ। आपकी प्रिय पुत्री का विवाह हो गया। एक साल के बाद वह चार दिन के लिए आपके घर आई और अपनी सास के विषय में शिकायतें करना शुरु कर दिया।

इस संसार में सास नामक एक ऐसा पात्र है जिसके विषय में गुजराती में कहते हैं - जे रोज पडावे आँसुं एनुं नाम सासु...। (जब व्याख्यान में मैं यह कहता हूँ तब जो सास बन चुकी हैं वे माताएँ इसका विरोध करती हैं। कहती हैं 'साहब, इस काल में तो बात इसके विपरीत है। अतः अब इस परिभाषा को बदलना होगा 'जे रोज पाडे आँसु एनुं नाम सासु - ठीक है?)

'ठीक है।'

तो अब इन माताओं से एक प्रश्न पूछुंगा, क्या आप नित्य आँसु बहाना चाहती हैं?

माताएँ : जी नहीं...।

तो फिर सास बनना ही नहीं।

'किंतु पुत्र हो तो?'

पुत्र हमें सौंप दीजिए। कलह के मूलरुप 'सास' का पद प्राप्त करने से तो कहीं अधिक इच्छनीय है 'रत्नकुक्षी माता' का पद प्राप्त करना। यह पद तो गौरवप्रद है, आनंदप्रद है। जिनको इस बात पर विश्वास न होता हो वे उन माताओं का सर्वेक्षण करें जिन्होंने एक पुत्र का विवाह करवाया है और स्वयं सास बनी हैं और दूसरे पुत्र को संयममार्ग पर भेज कर रत्नकुक्षी माता भी बनी है। ऐसी अनेक सुश्राविकाएँ आज श्री संघ में विद्यमान हैं।

आपकी पुत्री शिकायत कर रही है, 'मम्मी! पापा! मेरे दुःखों की कोई सीमा नहीं है। मेरी सास सुबह से शाम तक मज़दूरी करवाती हैं। घर में झाडू लगाओ, पोंछा करो, कपड़े धोओं, बर्तन साफ करो, खाना बनाओ। न शांति से खाने देती हैं, न पीने देती है, न चैन से सोने देती हैं और बीच बीच में कटु शब्दों के हंटर की मार भी चलती रहती है। पापा, मैं बिलकुल त्रस्त हो गई हूँ...।'

अब मैं आप से एक प्रश्न पूछता हूँ। आपकी पुत्री को उसकी सास का बहुत त्रास है। क्योंकि (१) प्रथम विकल्प : आपकी पुत्री के कर्म दुष्ट हैं। (२) दूसरा विकल्प : पुत्री की सास दुष्ट है।

बोलिए, कौनसा विकल्पसही है?

'प्रथम विकल्प... पुत्री के कर्मदुष्ट हैं।'

यह बात आप केवल मेरे समक्ष ही कहेंगे या घर जा कर अपनी पुत्री से भी कहेंगे? क्या आप पुत्री को समझा सकेंगे कि, 'पुत्री! दुष्ट तेरी सास नहीं है, दुष्ट हैं तेरे पूर्व में अर्जित कर्म!' यही उत्तर सही है और इसी उत्तर के लिए कुदरत देती है एक भव्य पुरस्कार। इस विषय में एक और बात भी हमें समझनी है कि 'कौन बनेगा करोड पति' गेम शो में सही उत्तरों के लिए पुरस्कार दिए जाते थे, किंतु गलत उत्तरों के लिए कोईदंड न था। जब कि कुदरत के इस गेम शो में सही उत्तर का पुरस्कार जितना भव्य है, गलत उत्तर का दंड उतना ही भयंकर है। यह पुरस्कार और दंड दोनों हमारी कल्पना से परे हैं। इस विषय में हम आगे विचार करेंगे। यह उदाहरण केवल पुत्री से संबंधित नहीं है। सब के लिए यह लागु हो सकता है। कुछ भी सहन करने की बात आए तो यह बात लागु हो जाती है। पडोसी आफतों की गठरी है, कदम कदम पर परेशान कर रहा है। छोटा भाई हमारे विरुद्ध हो गया है, पड़ोस में, समाज में और बाज़ार में हमारे विषय में अनेक गलत - सलत बकवास करके सब को हमारे विरुद्ध बहका रहा है...। उसकी वज़ह से हमें बहुत सहना पड़ता है।...

जेठानी बडी कामचोर और गज़ब की आलसी है। इस कारण से देवरानी को सुबह से शाम तक काम करना पड़ता है - काम क्या चंट मज़दूरी ही करनी पड़ती है। और भी ऐसी कि कोई भी अच्छी वस्तु घर में आई तो स्वयं ले लेती है, और इतनी चतुर कि सास आदि स्वजनों के पास एवं महेमानों के सामने देवरानी की कुछ न कुछ बुराई करती ही रहती है। और बेचारी देवरानी सबकी नज़रों से गिर गई है।

संसार में सहनी पड़ती ऐसी तो अनेक बातें हैं। X, Y, या Z - अनेक व्यक्तिओं के कारण ऐसी अनेक कठिनाईओं का सामना करना पड़ता है तो कभी कभी किसी एक ही व्यक्ति के कारण बहुत कुछ सहना पड़ता है। जब कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो तब अपने आप से यह प्रश्न पूछिए - मैं X, Y, या Z के कारण परेशान हो रहा हूँ क्योंकि (१) प्रथम विकल्प: मेरे कर्म दुष्ट हैं (२) दूसरा विकल्प: यह X, Y, या Z दुष्ट है। हर बार प्रथम विकल्प ही सही होता है। प्रकृति इस उत्तर का ही भव्य पुरस्कार देती है क्योंकि ये - X, Y, या Z तो जेलर हैं। जेलर कैदी को अंधेरी कोठरी में बंद कर दे, चाबुक से फटकारे, तरह तरह की मज़दूरी करवाए, भूखा भी रखे। अरे! न्यायालय से आज्ञा दी गई हो तो फाँसी पर भी लटका दे, फिर भी वास्तव में वह दुष्ट नहीं होता। खुद का अपराध ही ऐसा होता है

जिसके फलस्वरूप कैदी को ऐसी सज़ा भोगनी पड़ती है। यही बात हर किस्से में होती हैं। हर बार 'मेरे कर्म दुष्ट हैं... मेरे कर्म दुष्ट हैं...' इस मंत्र का रटन करना चाहिए। दंड की अवधि या कठोरता को कम कराने के लिए यही एक उपाय है। प्रभु वीर के साडे बारह वर्ष के साधनाकाल में कदम कदम पर घोर उपसर्ग आए हैं, परंतु प्रभु ने कभी भी किसी उपसर्गकर्ता को दुष्ट माना है? फिर वह संगम हो या शूलपाणि हो, कटपूतना व्यंतरी हो या ग्वाला हो या अन्य कोई भी हो : इनमें से किसी भी उपसर्गकर्ता को प्रभु ने दुष्ट नहीं माना है, और इसी कारण से उनके प्रति द्वेष या दुर्भाव से वे बच सके थे। 'मेरे कर्म ही बुरे हैं। मेरे ही अपराध का दंड मुझे मिल रहा है। ये X, Y, या Z तो जेलर हैं। समतापूर्वक सहन करने से ही मेरा दंड निर्मूल होगा।' ऐसे विचारों से सहनशक्ति बढती है यह निश्चित है। अत एव असह्य लगनेवाले आघातों को भी जीव समतापूर्वक सहन कर सकता है और फिर कुदरत भी समतापूर्वक सहन करने के भव्य पराक्रम को इनाम से पुरस्कृत किए बिना नहीं रहती है।

क्षार तथा धोका की मार सहन करनेवाले कपड़ों को स्वच्छता एवं चमक का पुरस्कार प्राप्त होता है। अग्नि में तपनेवाले सुवर्ण को शुद्धि एवं चमक का वरदान प्राप्त होता है। शिल्पी के हथौडे की, बिना टूटे मार सहन करनेवाला पत्थर परमात्मा बनने की एवं विश्वपूज्य बनने की क्षमता प्राप्त करता है।

जड तत्त्वों के लिए जो बात है वही बात जीवों को भी लागु होती है। जीवन में आनेवाली पीडाओं को समतापूर्वक सहन करनेवालों को पुरस्कार न मिला हो और ऊपर से दंड दिया गया हो ऐसी एक भी घटना अनंतकाल से कहीं भी दिख नहीं है। उससे विपरीत पीडा देनेवाले पर प्रहार करनेवाला दंड का पात्र न बना हो ऐसी भी कोई घटना आज तक दिखी नहीं हैं।

प्रश्न : हमारा किसी प्रकार का दोष न हो फिर भी कोई व्यक्ति अगर कदम कदम पर हमारा अपमान करता रहता हो तो यह तो घोर अन्याय ही हुआ ना! ऐसा अन्याय कहां तक सहन करना?

उत्तर : हमें न्याय में रुचि है या समाधान में? न्याय के परिणाम स्वरूप तो जिसके पक्ष में निर्णय दिया गया उसके घर में ही रोशनी होती है, जब कि समाधान के फल-स्वरूप तो दोनों घरों में आनंद का दीप जलता है, निराशा और व्यथा का अंधकार नष्ट हो जाता है। कर्मसत्ता न्याय में मानती है। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में शय्यापालक के कानों में गरम-गरम सीसा डलवाया था, अंतिम भव में कानों में शूल की पीडा देकर कर्मसत्ता ने न्याय कर दिया। लेकिन धर्मसत्ता तो समाधान में मानती है। प्रभु महावीर ने - यह तो मेरे पूर्वकृत अपराधों का दंड है -

ऐसा समाधान करके उस असह्य पीडा को भी अपूर्व समतापूर्वक सहन कर लिया। परंतु यह बात स्मरणीय है कि कर्मसत्ता जीव को पीडा देने में मानती है और धर्मसत्ता जीव को सुखी करने में मानती है। अब हमें जो पसंद है उसीके पक्ष में हमें बैठना नहीं चाहिए क्या?

सच तो यह है कि, कुदरत के शासन में अन्याय का कहीं स्थान ही नहीं है। 'हर समय मुझे ही सहन करना है?' यह प्रश्न ही अनुचित है। 'यहाँ, यह जेलर तो न कभी अंधेरी कोठरी में बंद होता है, न कभी मार खाता है, न मज़दूरी करता है। मुजे ही ये सारी पीडाएँ सहनी पड़ती हैं' ऐसा क्यों? अगर कोई बंदी ऐसा प्रश्न करे तो क्या यह उचित होगा? नस्तर की या शस्त्रक्रिया की पीडा मुझे ही सहनी है? डॉक्टर को तो कुछ सहना नहीं है। ऐसा प्रश्न करने का अधिकार क्या दर्दी के पास है? कर्म की गांठ या फोडा दूर हो रहा है, फिर ऐसा प्रश्न पूछने का अर्थ ही क्या है? पालक को ऐसा ही जेलर या सर्जन डॉक्टर माननेवाले पाँचसौ शिष्यों ने घाणी में पिसे जाने की प्राणांत वेदना में भी अन्याय न देखा तो केवलज्ञानरूप श्रेष्ठतम पुरस्कार प्राप्त कर मोक्ष सिधाये। परंतु उनके गुरु खंधकसूरि ने इसे पालक का घोर अन्याय माना तो उन्हें दु:खमय संसार में भटकने की सज़ा मिली। ''इस बालमुनि को इस तरह घाणी में पिसा जाता मैं नहीं देख सकूंगा। इसलिए तू पहले मुझे पीस ले बाद में इस बालमुनि को पीसना।'' इतनी विनंती की। खंधक सूरि को पालक अधिक से अधिक त्रास देना चाहता था। अत: उसने उनकी विनंती मानने से स्पष्ट इनकार कर दिया और प्रथम बालमुनि को ही घाणी में डाला। खंधक सूरि मन में सोच रहे थे : अकारण मेरे चारसौ निन्यानबे निर्दोष साधुओं को तुने घाणी में डालकर पीसा फिर भी मैंने एक शब्द भी न कहा। और केवल क्रम बदलने की छोटीसी विनंती कर रहा हूँ उसका भी तुने स्वीकार न किया? यह तेरा घोरतम अन्याय है। और इस घोर अन्याय को मूक साक्षी बन कर देखनेवाले ये नगरजन भी अन्याय को न रोकने का अन्याय कर रहे हैं।

अन्याय होते देखा तो मन उसे सहन करने के लिए तैयार होगा ही नहीं। और फिर भी उस अन्याय को रोक न पाये, लाचार, विवश होकर भी यदि उसे सहना पड़े तो मन प्रतिशोध के लिए तैयार होगा ही। खंधक सूरि की मानसिक स्थिति ऐसी ही थी। 'यह दुष्ट पालक, उसे ऐसा क्रूर कर्म करने की स्वतंत्रता देनेवाला राजा और उसे निषेध न करके इस अन्याय में साथ देनेवाले ये प्रजाजन... इन सब के साथ इस नगर का नाश करनेवाला बनूं ऐसा* नियाणा

*(आज तक की हुई तपआदि साधना के फलस्वरूप मुझे भविष्य में कोई प्रबल शक्ति

- समृद्धि प्राप्त हो' ऐसी प्रबल इच्छा करना यह नियाणा कहा जाता है...)

कर लिया... परंतु परिणाम? कुदरत की ओर से पुरस्कार या दंड ...? विश्वप्रसिद्ध बात है यह...।

संगमदेव ने प्रभु वीर को एक रात में अत्यंत भयंकर बीस उपसर्ग किये। इसके बाद भी उसने उनका पीछा न छोड़ा। छ :मास तक अनेक प्रकार से प्रभु को पीडा पहुँचाने का प्रयत्न करता ही रहा। इतना होने पर भी प्रभु ने इसे अन्याय नहीं माना है। क्या प्रभु को किसी प्रकार की हानि हुई? एक बात स्मरण में रखनी है। यह कर्मसत्ता दंड देने के विषय में जिस प्रकार अत्यंत निर्दय है उस प्रकार क्षमा करने के विषय में वह उतनी ही दयालु है। अगर हम हमारे एक अपराध के दंड को समतापूर्वक सहन कर लेते हैं तो यह कर्मसत्ता हमारे अन्य अनेकानेक अपराधों का दंड माफ कर देती है।

जेलर प्रतिदिन कैदी के पास कठिन से कठिन परिश्रम करवाता है। ऊपर से कोडे भी मारता है। कैदी आज्ञांकित सेवक की तरह दिया गया प्रत्येक काम कर देता है। मार भी चुपचाप सहन कर लेता है। यह क्रम प्रतिदिन चलता है। कारागार में हो रही इन घटनाओं को ही अगर कोई देखेगा तो उसे इसमें जेलर का अन्याय ही दिखेगा। लेकिन जो व्यक्ति अपनी दृष्टि को कारागार से बाहर ले जाएगा और कैदी के अपराध तथा न्यायालय द्वारा दिये गए दंड तक अपनी दृष्टि को ले जाएगा, तो उसे उसमें अंशमात्र भी जेलर का अन्याय नहीं दिखेगा, केवल और केवल न्याय ही दिखेगा। प्रस्तुत विषय में भी यही बात है। 'मुझे घोर अन्याय हो रहा है' ऐसी शिकायत करनेवाला जो भी हो उसे समझना चाहिए कि वर्तमान जीवन तो कारागारस्वरूप है। कबूल, इस कारागार में तो तुने कुछ भी गलत नहीं किया है। परंतु अपनी दृष्टि को यहीं तक सीमित न रखकर इस कारागार से आगे, पूर्वजन्म, उनमें किये हुए अपराध, कर्मसत्ता के न्यायालय द्वारा दी गई सज़ा... इन सब बातों तक अपनी दृष्टि को ले जा, तो निश्चित रूप से तुझे कहीं भी, अंशमात्र भी अन्याय नहीं दिखेगा। न्याय ही प्रतीत होगा। और अगर न्याय की प्रतीति होगी तो मन उस सज़ा को सहन करने के लिए निश्चित रूप से तैयार हो जाएगा। यही नहीं, सज़ा को सहन करते हुए भी वह मन पूर्णत: शांत बना रहेगा।

पाश्चात्य विद्वान भी अब इस न्याय का स्वीकार करने लगे हैं। इससे संबंधित कुछ बातें देखें। Hypnotic Trans - संमोहन की प्रक्रिया के द्वारा एक हजार से भी अधिक मनुष्यों के पूर्वजीवन का अभ्यास करनेवाले डॉ.एलेक्ज़ांडर केनन द्वारा The Power Within नामक पुस्तक में दिये गए सारांश,

आकलन:- 'क्या दूसरा जन्म अपनी पसंद के अनुसार मिलता है? 'Age Regression - *के प्रयोगों में इस प्रश्न का उत्तर 'ना' में मिला है। दूसरा जन्म अपनी इच्छ ानुसारनहीं मिलता बल्कि अपने वर्तमान जीवन के अनुसार मिलता है।*

पूर्वजन्मकृत किसी दुष्कृत के फलस्वरूप क्रिया - प्रतिक्रिया के नियमानुसार कोई मनुष्य इस जन्म में किस प्रकार दुःखी होता है यह बताकर पूर्वजन्मों का अभ्यास कुदरत के साम्राज्य में प्रवर्तित श्रेष्ठ न्याय को सिद्ध करता है। 'मेरे ऊपर एक के बाद एक आपत्तियों का आगमन क्यों होता रहता है? ऐसी फरियाद करनेवाले मनुष्यों के विगत जन्मों में दृष्टि ड ालनेपर ज्ञात होता है कि उन्होंने पिछ लेजन्मों में क्रूर कर्म किये हैं। जब कि दूसरा व्यक्ति कुछ भी करे तो भी उसे सफलता ही प्राप्त होती है। पूर्वजन्मकृत किसी सत्कार्य का यह पुरस्कार हो सकता है।

परामनोवैज्ञानिक संशोधन द्वारा कर्म तथा पुनर्जन्म की प्रतीति होने के कारण पाश्चात्य जगत में कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत का स्वीकार कर लेने की मांग हो रही है। डॉ.पॉल ब्रंटन Paul Brunton अपने 'The Hidden Teaching Beyond Yoga' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि *कर्मका सिद्धांत एक वैज्ञानिक सिद्धांत है। एशिया के धर्मों ने उसका स्वीकार किया है। योरप (यूरोप) में भी पहले उसको मान्यता दी गई थी। परंतु इसु के बाद करीब पाँच सौ वर्ष बाद कोन्स्ट ांटीनोपलकी काउन्सिल ने उसे इसु के उपदेश में से निकाल दिया। इस प्रकार कुछ नासमझ लोगों ने पाश्चात्य देशों को इस वैज्ञानिक नियम से वंचित किया। परंतु अब इस वैज्ञानिक सिद्धांत को पुन: प्रतिष्ठि तकरने का समय आ गया है। इस कार्य को आगे बढ़ ानायह शासकों का, नेताओं का, शिक्षकों का तथा धर्मगुरुओं का कर्तव्य है। जब मनुष्य को यह समझ में आयेगा कि अपनी वृत्ति - प्रवृत्ति के प्रत्याघात में से बचना संभव नहीं है, तब उसे क्या प्रवृत्ति करनी चाहिए इस विषय में वह अधिक सावधान रहेगा और विचार करते समय भी अधिक सावधान रहेगा। जब उसे यह ज्ञान होगा कि 'द्वेष तथा धिक्कार ऐसे कातिल शस्त्र हैं जो केवल जिस पर वार किया है उस शत्रु को ही नहीं, बल्कि वहाँ ट कराकर, वापिस घूम कर, स्वयं शस्त्र छ ोड नेवालेको भी घायल करता है' तब वह इस अत्यधिक अनर्थकारक पाप के विचार को अपने मन में स्थान देने से पहले सौ बार सोचेगा।*

इस समझ में से, सुदृढ नीतिमय जीवन का उद्‌भव होगा। पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धांत को अपनाना पश्चिम के लिए अत्यंत आवश्यक है और वह भी

शीघ्र, क्यों कि ये सत्य मनुष्य को एवं देश को अपने नैतिक उत्तरदायित्व का जो भान कराते हैं वह कोई भी अनुचित वाद या मान्यता करा सकेंगे नहीं।

जो मनुष्य कुदरत के इस न्याय का हृदयपूर्वक स्वीकार करता है उसके जीवन में फिर कोई फरियाद ही न रहने से स्वस्थ एवं शांत जीवन सहज बनेगा। फिर, 'मुझे इतना सारा काम करना पड़ ताहै और वह तो कुछ भी नहीं करता है' ऐसी जीवन की सारी असमानताओं को बिना किसी शिकायत के जीव स्वीकार कर सकेगा। सामान्य कैद की सज़ा पानेवाला कैदी कोई श्रमपूर्ण काम नहीं करता। सख्त कैद की सज़ा पानेवाला मनुष्य श्रम करते करते पस्त हो जाता है, थककरचूर हो जाता है फिर भी क्या उसकी कोई फरियाद होती है...? अस्तु...।

अपनी सास के विषय में शिकायत करनेवाली पुत्री से कहिए - अगर तुझे कुदरत से भव्य पुरस्कार पाना है तो 'मेरे कर्म दुष्ट हैं' ऐसा सही उत्तर ही बोलना, सोचना। और दंड नहीं चाहिए तो 'मेरी सास दुष्ट है' ऐसे गलत उत्तर का तो विचार भी मत करना।

प्रश्न : परंतु अगर हमारी पुत्री आज्ञांकित न हो, कामकाज में ज्यादा रुचि रखनेवाली न हो, आलसी हो, जो थोड़ ाबहुत काम करे, उसे भी अपनी मूर्खता के कारण बिगाड़ देती हो, अविवेकी होने के कारण सास को पलट कर जवाब देती हो - और इन सब बातों के कारण सास अगर हमारी पुत्री को परेशान कर रही हों तो तो हम समझ सकते हैं कि सास दुष्ट नहीं हैं, परंतु अगर हमारी पुत्री आज्ञांकित हो, प्रवृत्तिशील और घर के कामों के प्रति उत्साही हो, कार्यकुशलहो और साथ साथ इतनी नम्र हो कि कभी भी सास के सामने एक शब्द भी न बोलती हो और फिर भी उसकी सास उसे कष्ट देती हो तो तो कोई भी समझ सकता है कि सास दुष्ट है। और ऐसे संयोगों में 'सास दुष्ट नहीं है' ऐसा कोईकैसे कह सकता है?

(ऐसा अनेक मनुष्यों के जीवन में होता है। अपनी कोई भूल नहीं है। निर्विवाद रुपसे सामनेवाले की कल्पना हो गलत है या लोकदृष्टि से तो वही दुष्ट हो, और बारबार परेशान करता हो तो फिर वह दुष्ट नहीं है ऐसा मन को कैसे समझाना? जिसके लिए तन-मन-धन सब लुट ायाहो, जिसके लिए इतने कष्ट सहन किएहों, अपमान के कड़ वेघुंट पीये हो, अपने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को गौण कर दिया हो, वही व्यक्ति आज हर प्रकार से परेशान कर रहा हो, ऐसे संयोगों में 'वह व्यक्ति दुष्ट नहीं है' ऐसा हृदय किस प्रकार स्वीकार कर सकता है?)

उत्तर : जेलर कभी भी दुष्ट नहीं होता। कहने का आशय यह है कि जेलर

कैदी के पास जो कुछ परिश्रम - कठिनकाम करवाता है - 'चल, इतने पत्थरों को तोड़ दे', 'इतना अनाज़ पीस ले,' 'सारी जेल को झाड कर साफ कर ड़ाल।' हर बार without any argument आज्ञांकित सेवक की तरह कैदी सारा काम कर लेता है, चुपचाप मार सह लेता है फिर भी प्रतिदिन वह जेलर उस कैदी के पास कठोरपरिश्रम करवाता है और ऊपर से हंटरसे मारता भी है। एक दिन... दो दिन, एक महीना, दूसरा महीना...। इस जेलर को कोई दुष्ट कह सकता है?

किसी अनाम व्यक्ति की कल्पना करें। न्यायालय क्या है? अपराध क्या है? दंड क्या है? जेल और जेलर क्या है? इनमें से एक भी बात न वह जानता है न समझता है। यह अरोज यह देखता है कि यह मनुष्य (जेलर) बेचारे उस आदमी (कैदी) के पास हमेशा कितना परिश्रम करवाता है। यह आदमी (कैदी) बेचारा कितना नम्र और भोला है! बिना कोई प्रश्न या दलील किये वह सारा काम कर देता है और फिर भी शाम होने पर यह मनुष्य इसे चाबुक से फटकारताहै। सचमुच यह आदमी बेचारा अत्यंत सीधा-सादा, महेनती और नम्र है तथा वह चाबुक से मारनेवाला अति दुष्ट ,क्रूर है जो इसे इतना त्रास देता है...।

जेल, जेलर, न्यायालय इत्यादि से जो मनुष्य पूर्णत : अनजान है उसे अवश्य जेलर दुष्ट प्रतीत होगा। परंतु जो इन बातों से, इस न्याय प्रणालिका से परिचित है उसे कभी जेलर दुष्ट प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार पूर्वजन्म, अपराध, कर्मसत्ता का न्यायालय, उस न्यायालय द्वारा निश्चित किया गया दंड ,जेलर के रूप में आसपास के अनेक जीव... इन सब बातों की कोई समझ जिसे नहीं है उसे भले उत्पीडकजीव दुष्ट ,निर्दय प्रतीत हो परंतु जिसे इन सब बातों का पता है, विश्व की इस कार्यप्रणाली का जिसे ज्ञान है उसे तो उत्पीडकजेलर ही प्रतीत होगा तो वह उसे दुष्ट कैसे लगेगा?

शंका : यह तो ऐसा हुआ कि कर्मसत्ता का ज्ञान होना यह भी एक अपराध स्वरूप बन गया, क्योंकि जिसे इसकी समझ नहीं है उसके लिए पीडक जीव जेलर नहीं है, उसे वह जेलर जैसा नहीं मानेगा, अत: वह उसका सामना करने की चेष्टा करेगा तो उसकी सज़ा में वृद्धि नहीं होगी। लेकिन जिनको इन नियमों की समझ है उसकी सज़ा तो बढ़ ही जोएगी, क्योंकि उसको तो उत्पीड़क को जेलर मानना ही होगा।

समाधान : Ignorance is not an excuse अज्ञान कोई बचाव नहीं है। जो जेलर को जेलर के रूप में स्वीकार न करे और इस वजह से उसे दुष्ट मान कर उस पर हमला करने का, उसे मारने का प्रयत्न करे तो क्या उस कैदी की सज़ा

बढ़ादी नहीं जाएगी? उसी प्रकार कर्मसत्ता आदि को जो समझता नहीं है और उस कारण से पीडादेनेवाले जीव से बदला लेने की इच्छा से उसे मारने की चेष्टा करे तो उस अज्ञानी जीव को भी कर्मसत्ता सज़ा करती ही है। उसका अज्ञान उसे बचाता नहीं है।

पिता के हाथों बच्चे को खाना पडतामार, पशु के गले में लटकताहुआ लकड़ीका टुकड़ा इत्यादि जहाँ जहाँ सज़ा देखने को मिलती है वहाँ वहां अपराध की ही कल्पना करनेवाले हम, स्वयं को मिल रही सज़ा में अपने अपराध के विषय में न सोचें यह कैसे चल सकता है?जो हमें अच्छा नहीं लगता है और फिर भी सहना पड़ताहै वह सब कुछ सज़ा ही है और अगर यह सज़ा है तो अपराध भी हुआ ही होगा। और अगर अपराध है तो उसके लिए दंड देनेवाला कोई तंत्र (न्यायालय) कुदरत में होना ही चाहिए। अन्यथा अपराध और अपराधी निरंकुश बन जायें, अराजकता फैल जाय। चारों ओर चोरी, लूट ,मारामारी, हत्या आदि अनेक प्रकार के अपराध ही देखने को मिलें। और कुदरत का कोई न्यायालय है तो उसके द्वारा निश्चित की गई सज़ा का अमल करनेवाला कोई जेलर भी तो होना ही चाहिए। ये सारी बातें दो और दो चार (२+२=४) जैसी स्पष्ट और सीधी हैं। इतना समझने का कष्ट भी अगर हम न उठाएतो वह कष्ट न उठानायह भी एक दोष क्यों न बन जाए? ऐसी उपेक्षा हमारा बचाव कैसे कर सकती है? अत: अज्ञान कोई बचाव नहीं है।

तो अब यह बात तो निश्चित हो गई कि कर्मसत्ता के न्यायालय आदि का ज्ञान किसीकोहो या न हो, पीडादेनेवाला - उत्पीडकतो जेलर ही है, जेलर से अधिक कुछ भी नहीं और जेलर हृदय से दुष्ट कभी नहीं होता। दुनिया के कारागार का वह अधिकारी जेलर कभी दस के स्थान पर ग्यारह कोडे फटकार सकता है और ऐसा करके न्यायालय के आदेश से अधिक सज़ा दे सकता है परंतु कर्मसत्ता की कोर्ट का जेलर निश्चित की गई सज़ा में अंशमात्र भी वृद्धि नहीं कर सकता। जितनी सज़ा कर्मसत्ता ने निश्चित की हो उतनी ही सज़ा करने की उसके पास सत्ता होती है। एक अंशमात्र भी वृद्धि करने की न तो उसके पास सत्ता होती है न शक्ति। तो फिर उसे हम दुष्ट कैसे मान सकते हैं? इसके अतिरिक्त एक और बात यह भी है कि जेलर कैदी की तुलना में अधिक ताकतवाला ही हो ऐसा भी नियम नहीं है। अनेक पहलवान, बलवान और खूंखार अपराधी की तुलना में कई जेलर दुबले - पतले और कम ताकतवाले होते हैं और फिर भी जेलर के रूप में वे उन अपराधियों को कोडे मारना इत्यादि करते ही हैं। हमारे कष्टों के विषय में भी ऐसा देखने को मिलता है।

ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्ती! छ:खंड का सम्राट !चौदह रत्न, नव निधान, सोलह हजार देव उसकी रक्षा करने के लिए सदा तत्पर। अपनी ही राजधानी में जब राजसवारी निकले तब अंगरक्षकों का काफिला भी कैसा? फिर भी जंगल के किसी भीलजाति के लड़के ने गुलेल से उसकी आँखें फोड डालीं।क्या यह संभव है? लेकिन ऐसा हुआ है यह हकीकत है...।

दुनियाँ में हो रहीं ऐसी घटनाएँ भी-अगर हम थोडा सा भी सूक्ष्म चिंतन करें - तो अवश्य यही सूचित करती प्रतीत होगी कि बलवान को पीडा पहुँचानेवाला वह निर्बल जीव 'जेलर' ही हो सकता है। जेलर के रूप में प्राप्त अधिकार के बिना - न्यायालय के समर्थन के बिना ऐसा होना संभव ही नहीं है।

इसलिए कहता हूँ कि परेशान करनेवाला जेलर है और जेलर मन से कभी दुष्ट नहीं होता। न्यायालय का आदेश हो तो वह अपराधी को शूली पर लटका भी सकता है, और फिर भी वह दुष्ट नहीं है,उसी प्रकार कर्मसत्ता के न्यायालय का आदेश हो तो कोई प्राण भी ले सकता है। फिर भी उसे दुष्ट नहीं मानना है...। अर्थात्...

गाली देनेवाला... जेलर!

थप्पड मारनेवाला... जेलर!

कदम कदम पर अपमान करनेवाला... जेलर!

गलत दोषारोपण करनेवाला... जेलर!

बात बात पर हमारी बात को तोड़ देनेवाला... जेलर!

सबके सामने हमारी बुराई करनेवाला... जेलर!

हमारी चीज़ - वस्तुओं को हानि पहुँचानेवाला ... जेलर!

व्यापार में बाधाएँ खडी करनेवाला... जेलर!

हमारे हाथ - पैर तोड़ देनेवाला... जेलर!

बस, जेलर... जेलर... जेलर! इसी शब्द को रट ते रहिए। कुछ भी सहन करना पड़े तो याद करिए... जेलर! कोई एक व्यक्ति अत्यंत परेशान कर रहा है, बारबार तकलीफ खड़ी करता है! उसकी ऐसी हरकतों से हम बाज़ आ गए हैं... थक गए हैं और इस कारण से उसके प्रति क्रोध जगता है। प्रतिशोध लेने की इच्छा होती है। कुछ न कुछ तो इसका करना ही चाहिए ऐसे भाव मन में जगते हैं... और कुछ भी कर नहीं सकते हैं, तो मन खिन्न - व्यथित रहता है, अत्यंत अशांत रहता है। इस व्यक्ति का नाम चाहे जो भी हो... अ, ब या क... उसका नाम लेकर में अपने आप से कहूँगा... 'हे जीव! यह 'अ' तो जेलर है, वह दुष्ट

नहीं है।' अथवा 'हे जीव! अ दुष्ट नहीं है। तेरे कर्म दुष्ट हैं!' प्रतिदिन इस मंत्र का १०८ बार जाप कीजिए, कब तक? जब तक उसके प्रति हमारे मन में से वैर की भावना पूर्णत: नष्ट न हो जाय... विलीन न हो जाय...

एक और विशेषता बताता हूँ : कौन बनेगा करोड पति में एक सही उत्तर का इनाम प्राप्त करने के बाद आप उसी उत्तर को दोहराते रहें तो दूसरी - तीसरी बार इनाम प्राप्त नहीं होता है। परंतु कुदरत के इस खेल में तो जितनी बार यही उत्तर दोहराया जाए उतनी बार इनाम दिया जाएगा, क्योंकि यही और मात्र यही एक सही उत्तर है... : 'पड़ोसी तो जेलर है।' 'पडोसी कोई दुष्ट नहीं हैं। मेरे कर्म ही दुष्ट हैं।' ' मेरे कर्म अगर ऐसे न हों तो पडोसी मेरा क्या बिगाड़ सकता है?' जितनी बार आप मन में ऐसा सोचते हो या दूसरों के साथ बात करते समय इस बात को दोहराते हो उतनी बार कुदरत आपके एकाउंट में इनाम जमा करती जाती है, क्योंकि आपके ये उत्तर सही हैं। और इससे विपरीत - 'पड़ोसी बदमाश है', 'दुष्ट है', 'बारबार मुझे परेशान करता है...' इत्यादि आप जितनी बार सोचते हो या बोलते हो उतनी बार कुदरत आपके खाते में सज़ा जमा करती जाती है क्योंकि, आपके ये उत्तर गलत हैं।

इसके साथ साथ, एक अन्य बात भी समझने योग्य है कि दुनियाँ की कोई भी सत्ता, कोई भी संस्था या कोई भी धनवान व्यक्ति जो पुरस्कार देने के लिए समर्थ नहीं है ऐसे भव्य पुरस्कार कुदरत देती है। और उसी प्रकार दुनियाँ की कोई भी सत्ता, न्यायालय या शत्रु जो दंड नहीं दे सकते ऐसा भयंकर दंड कुदरत दे सकती है। संक्षेप में कहें तो कुदरत की इनाम देने की शक्ति भी अनंत है और दंड देने की शक्ति भी अनंत है।

अब कुदरत के पास से भव्य इनाम चाहिए या भयंकर सज़ा? निर्णय हमें ही करना है।

सुखं धर्मात् दुखं पापात् सर्वशास्त्रेषु संस्थितिः...
१४४४ ग्रन्थों के रचयिता श्री हरिभद्रसूरि म.
शास्त्रवार्तासमुच्चयनामक ग्रन्थ में कहते हैं कि –
'सुख धर्म का फल है, दुःख पाप का...'
विश्व के समस्त धर्मग्रन्थों में यह बात कही है...

२. कर्मसत्ता
The Only Authority to Punish

प्रश्न : दूनियाँ की जेल में कई बार ऐसा देखने को मिलता है कि जेलर उद्धतमिजाजवाला हो तो न्यायालय के आदेश के बिना भी कैदी की विवशता का लाभ उठाकर कभी कभी उसे दो-चार थप्पड लगा देता है और अपना काम भी करवा लेता है। कुछ ऐसा ही - पडोसीइत्यादि जो अन्य लोग हमें परेशान करते हैं - उसमें संभव हो सकता है ना! हमारा अपराध कुछ भी न हो और उस कारण से कर्मसत्ता द्वारा कोई भी सज़ा न दी गई हो फिर भी पडोसीया और कोई भी व्यक्ति हमें परेशान करता हो यह भी संभव है ना! तो ऐसे संयोगों में तो उसे दुष्ट मानना ही पड़ेगाना?

उत्तर : कर्मसत्ता द्वारा न ही दी गई हो ऐसी कोई भी सज़ा कोई भी जीव किसी को कभी भी नहीं कर सकता। यह नियम अपने हृदय में सदा के लिए अंकित करके रखने योग्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस विश्व में सज़ा करने का अधिकार केवल कर्मसत्ता को ही है। उसके अतिरिक्त किसीके पास यह अधिकार नहीं है। कोई भी जीव चाहे कितना बड़ा सत्ताधीश हो, कितना भी शक्तिमान हो, कितना भी अधिक श्रीमंत या बुद्धिमान हो और अन्य किसी जीव को कष्ट देना चाहता हो - कष्ट देने का प्रयत्न कर रहा हो परंतु कर्मसत्ता ने अगर उस दूसरे जीव को दंडित करने के लिए आदेश न दिया हो तो वह महान सत्ताधीश या शक्तिमान जीव भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। इसका श्रेष्ठ - ज्वलंत उदाहरण है अघटकुमार...!

अवंतिदेश, विशाला नगरी, सुघटित नामक राजा, ज्ञानगर्भ नामक राजपुरोहित। जब राजसभा में काम चल रहा था तब एक सेवक ने आ कर राजपुरोहित के कान में कुछ कहा जिसे सुनते ही राजपुरोहित की आँखें चमक उठीं और सानंदआश्चर्य ये शब्द उनके मुख से निकले, ''अच्छा! क्या कह रहे हो? क्या यह सच है?'' इन शब्दों को सुन कर राजा की जिज्ञासा जाग उठी।

उन्होंने पूछा - 'बात क्या है?'

पुरोहित ने कहा, 'मेरी दासी ने पुत्र को जन्म दिया है। बालक जब गर्भ में था तब उसकी माता द्वारा देखे गए स्वप्न सूचित कर रहे थे कि भविष्य में यह

बालक महान होगा। आज उस बालक का जन्म हुआ है और उसके अंग पर चक्र-धनुष आदि लक्षण हैं। यह समाचार इस सेवक ने मुझे दिये।'

राजा - तो इस चक्र आदि लक्षणों का सूचितार्थ भी बताईये।

राजपुरोहित - यह बालक इस नगरी का राजा बनेगा और वह भी आपके जीवनकाल में ही।

राजपुरोहित का एक एक शब्द राजा के अंत:करण को शूल की भाँति चुभने लगा। मेरा प्राणप्रिय पुत्र विक्रमसिंह नहीं और एक दासीपुत्र मेरे राज्य का राजा बनेगा। असंभव! असंभव...! किंतु यह भी निश्चित है कि धनुष - चक्र आदि लक्षण राज्य दिलानेवाले ही हैं। इस विचार से राजा का मन भयाक्रांत हो उठा। अंत में राजा ने निर्णय लिया कि बालक को मृत्यु की गोद में सुला देना ही ठीक रहेगा।

राजा का आदेश हुआ। दो सेवक नवजात शिशु को राजपुरोहित के घर से उठाकर ले गए - उसकी हत्या करने के लिए ही तो...! शिशु को हाथ में लेकर वे नगर के बाहर निकले। परंतु देवशिशु के समान निर्दोष शिशु को देख कर वे सोचने लगे - 'इतना छोटा शिशु। राजा का उसने ऐसा क्या अपराध किया होगा कि राजा उसकी हत्या करवाना चाहते हैं? इतने सुंदर और निर्दोष शिशु की हत्या करने के लिए उनका अंत:करण तैयार नहीं हो रहा था। 'हम इसे यहीं कहीं छोड़ दें। फिर पशु - पक्षी चाहे कुछ भी करें।' ऐसा सोचकर एक कुंएँ के निकट उस शिशु को रख दिया और दोनों चले गए।

सुबह के समय बगीचे में प्रवेश करते ही माली के आश्चर्य की सीमा न रही। यह बगीचा तो जीर्ण था। मुश्किल से एक-दो पुष्प किसी वृक्ष पर खिलते थे। आज तो मानों वसंत का आगमन हुआ है। प्रत्येक वृक्ष फलों और फूलों से लद गया है। कैसा चमत्कार है यह : चारों ओर देखने पर कुंएँ के निकट एक हँसता - खेलता शिशु दिखाई दिया। शत्रु के हृदय में भी जिसके लिए ममता उमड़ पड़े ऐसे देवशिशु के समान बालक को उठाकर चूमने लगा। वह उसे अपने घर ले गया और अपनी नि:संतान पत्नी को सौंप दिया। 'आज से तुझे कोई वंध्या नहीं कहेगा।' बगीचे में जो घटना घट न सके, ऐसी घटना आज घट गई थी, इसलिए बालक का नाम रखा 'अघटकुमार'।

अकथ्य आनंद के महासागर में डूबी हुइ मालिन अत्यंत जतनपूर्वक बालक का लालन-पालन करने लगी। एक दिन बालक को साथ लेकर राजा को फूलों की माला देने के लिए वह राजसभा में आई। बालक पर दृष्टि पड़ते ही ज्ञानगर्भ राजपुरोहित ने जान लिया कि यह वही बालक है। बालक का अपहरण

हो गया था यह तो उन्हें पता था। परंतु बालक कहाँ है यह पता नहीं था। आज उस बालक को देखा तो वे अपनी दृष्टि को उस पर से हटा ही न सके। राजा के ध्यान में यह बात आ गई। कारण पूछ नेपर स्पष्ट वक्ता पुरोहित ने कहा : यह वही दासीपुत्र है जो आपके राजसिंहासन पर बैठ नेवाला है। राजा पुन: चिंता में डूब गया। उसने अपने दोनों सेवकों को बुलाया। राजा का क्रोध देख कर दोनों ने अपनी भूल का स्वीकार किया और कहा कि हमने तो बालक को कुंएँ के निकट रख दिया था। पूछ नेपर पता चला कि माली को वह शिशु कुंएँ के पास से ही मिला था। अब नि:शंक रूपसे निर्णय हो गया कि 'यह वही बालक है।'

यह बालक राजा बने यह राजा को किसी प्रकार स्वीकार्य नहीं था। उसने एक अति क्रूर जल्लाद को आज्ञा दी कि उस बालक के जीवन का अंत किया जाय। सैनिक बलपूर्वक मालिन के पास से उस बालक को उठा कर ले गया। यम के समान निष्ठुर जल्लाद बालक को लेकर जंगल की ओर रवाना हुआ। अघट कुमारसुंदर होने के साथ साथ चपल और हँसमुख भी था। यम के समान क्रूर इस अनजान मनुष्य से भी डरे बिना यह उसकी दाढी खींचने लगा और अपनी तुतली बोली में बा...बा..बा...बा... बोलने लगा।

दाढ़ी खींचने की क्रिया को अगर दुष्ट शरारत के रूप में देखा जाय तो क्रोध प्रेरक बन जाय और बालक्रीडा के रूप में देखा जाय तो वात्सल्य प्रेरक बन जाय। जल्लाद जैसे कठोर- हृदयहीन, बालहत्या के लिए तैयार उस क्रूर आदमी को तो यह शरारत ही प्रतीत हो यही अधिक संभव था। ''दुष्ट !मेरी दाढ़ी के बाल खींच कर पीडा दे रहा है? मैं क्या तेरा बाप हूँ कि बा...बा...बा...बा... कर रहा है?'' परंतु कर्मसत्ता ने इस बालक को मृत्यु का दंड अभी निश्चित नहीं किया था। वह तो दंड के स्थान पर इनाम देना चाहती थी। अत: उसने इस कठोरहृदय जल्लाद को भी इस पीडादायकखेल में बालक्रीडा के दर्शन करवाये। उसके हृदय को वात्सल्य से भर दिया। 'जो मुझे बाबा... बाबा कर रहा है ऐसे शिशु को क्या मैं मारूँगा? ऐसे निर्दोष शिशु की हत्या करूं तो मुझे कितना पाप लगेगा? मृत्यु के बाद मैं कहाँ जाऊँगा?' फिर उसने सोचा - 'लेकिन अगर मैंने इसे न मारा तो राजाज्ञा का क्या? मेरी नौकरी का क्या होगा? कहीं राजा को पता चल गया तो वे मेरा ही शिरच्छेदनहीं करवा देंगे?'

इसी उलझन में उलझा हुआ वह जल्लाद जंगल में पहुँचा। जंगल में एक यक्षमंदिर था। बड़ी तोंद और लंबी दाढीवाली मूर्ति को देखकर बालक खुश हो गया। छोटे छोटे पैरों पर चलता हुआ वह उस प्रतिमा के पास पहुँचा और उसके ऊपर चढ़ गया। मूर्ति की दाढ़ी के साथ बालक खेलने लगा। जल्लाद ने यह देखा

और बालहत्या के पाप से बचने के लिए बालक को वहीं छोड़ कर स्वयं भाग निकला। घोर जंगल में अकेला होते हुए भी बालक अघट कुमारअपने खेल में मस्त है।

पुण्यहीन दुर्भागी जन चिंता करते करते कई रातें बिना निद्रा लिए बीता देते हैं, फिर भी वे चिंता से मुक्त नहीं हो पाते, जब कि भाग्यवान के लिए तो भूत भी सारा काम कर देते हैं। इसीलिए ज्ञानी जन कहते हैं - 'पाप करना बंद कर, पुण्य भंडारजितना भर सके उतना भर। फिर तुझे अपनी कोई चिंता नहीं करनी पड़ेगी।तेरी चिंता कुदरत करेगी।' सामान्यत: देवगण अपनी दूनियाँ में मस्त होते हैं। हजारों वर्ष बीत जाते हैं परंतु पृथ्वी पर स्थित अपने स्वयं के मंदिर की ओर भी उनका ध्यान जाता ही नहीं है। परंतु अघट कुमारतो पुण्य का भंडारभर कर आया है। कुदरत को उसकी सेवा में तत्पर रहना ही पड़ेगा।कुदरत ने उस यक्ष का ध्यान उस मंदिर की ओर आकृष्ट किया। उस यक्ष (देव) ने अवधिज्ञान से अपने मंदिर में बाल अघट को अकेला देखा।

अघट कुमारके इस दृष्टांतमें जल्लाद ने अघट कुमारकी हत्या नहीं की। वह उसे अकेला छोड़ कर चला जाता है। अन्यत्र कहीं अन्य दृष्टांतमें ऐसी भी बात मिलती है कि स्वयं के जीवन को जोखिम में डालकर भी जल्लाद निर्णय करता है कि 'मैं बालक को मारूँगा तो नहीं, गुप्त रूपसे उसका लालन-पालन करूँगा।उसकी रक्षा करूँगा।' यहाँ विचार करने जैसी बात यह है कि यह व्यक्ति जल्लाद है जिसके हृदय में दया का अंश भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ है। कोई अगर उसे कहे, 'रे पाप! मनुष्य को मारने का काम करता है? मृत्यु के बाद कहाँ जाना चाहता है?' तब अपनी दृढ़ नास्तिकता को घोषित करता हुआ कहता 'पाप-पुण्य - परलोक मैं कुछ नहीं मानता।' ऐसे दयाहीन, नास्तिक जल्लाद को आज दयावान और आस्तिक कौन बना रहा है?

कर्मसत्ता की अमाप शक्तिओं को समझना आवश्यक है। वह कह रही है - ''मैं बड़े से बड़े क्रूर - क्रूरतम व्यक्ति को दयावान बना सकती हूँ। घोर नास्तिक को आस्तिक बना सकती हूँ। भक्षक को रक्षक बना सकती हूँ।'' मानों वह कह रही है 'यदि मुझे दीर्घ आयुष्यरूपी उपहार देना हो तो मैं क्या नहीं कर सकती?' २००६ के जुलाई मास में प्रीन्स नाम का किसी मज़दूर का छ:वर्ष का बेटा ६० फीट गहरे बोरवेल के गड्ढे में गिर गया। बोरवेल की चौडाई इतनी कम थी कि उसमें कोई साधन डालकर उसे खींच लेना संभव ही न था। यह किसी मंत्री, बड़े उद्योगपति या किसी लश्करी अधिकारी का बालक तो था नहीं। गरीब श्रमिक का बालक! श्रमिकों और गरीबों का इस देश में मूल्य ही क्या है? पाँच -

पच्चीस मर भी गए तो किसी देशनेता को इसके लिए तनिक भी दु:ख होनेवाला है? भोपाल गॅस दुर्घट नाकेस का फैसला भी इसी बात का प्रमाण नहीं है? ऐसी विषम परिस्थिति में फँसे बालक को कौन बचाता? परंतु कुदरत किसे कहते हैं? उस बालक को मानों कह रही थी - तुझे बचाने के लिए इन्डियन आर्मी को मैं उतारुँगी। एक अपूर्व मिशन उनके पास करवाऊँगी। करोड़ों टीवीदर्शकों के पास तेरे लिए प्रार्थना करवाऊँगी। सेना के इस मिशन के द्वारा पास के पैंतालीस फीट गहरे कुंए को साठ फीट गहरा करवा के उस कुएँ से बोरवेल तक मार्ग बनवा कर उस बालक को बचा लिया गया, पचास घंटे बाद बालक बाहर निकला था।

कुछ समय पहले २०१० में चीली में खदान - mines में धरती से दो हज़ार फीट नीचे फँसे हुए तैंतीस खान मज़दूर! चीली देश ने एवं पूरी दूनियाँ ने ही नहीं, स्वयं मज़दूरों ने भी प्रारंभ में बचने की आशा छोड़ दी थी। परंतु कर्मसत्ता उन्हें जिलाना चाहती थी। एक कल्पनातीत - अभूतपूर्व ऑपरेशन द्वारा सत्तर दिन के बाद उन सब को धरती पर सूर्य के दर्शन हुए।

कुदरत कितना ध्यान रखती है! 'नट खट मेरे पेट पर चढ़ कर बैठ गया? मेरी दाढी को खींचता है? मेरा ऐसा अपमान?' देव ने ऐसा कुछ न सोचा। बल्कि 'यह बालक मुझसे कितना स्नेह करता है।' ऐसा विचार कुदरत ने उसके मन में जगाया और इसीलिए उस देव ने सोचा कि इस बालक का लालन-पालन अत्यंत प्रेमपूर्वक हो ऐसे स्थान में उसे रखा जाना चाहिए। इस विचार से उस देव ने उसी वनप्रांत में अपना डेरा डालकर रहनेवाले, अपार संपत्ति के स्वामी, नि:संतान सार्थवाह देवधर को स्वप्न दिया, 'यहाँ निकटस्थ मेरे मंदिर में देवकुमार के समान एक बालक है। तू उसे ले जा और पुत्रवत् उसका लालन - पालन कर।' देवधर के आनंद की कोई सीमा ही न रही। इस तेजस्वी, कांतिवान बालक को प्राप्त कर वह स्वयं को भाग्यवान मानने लगा। देव का खूब खूब आभार मान कर उनकी भावपूर्वक पूजा की और अपने स्थान की ओर लौट गया।

देवधर की पत्नी को बालक ही नहीं, मातृत्व भी मिला। उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा ही न रही। असाधारण बुद्धि - प्रतिभा, विनय तथा अभ्यास के कारण, समय बीतने पर उस बालक ने युवावस्था में पदार्पण करते समय शस्त्र एवं शास्त्र सभी में निपुणता प्राप्त कर ली। पिता के साथ व्यापार के क्षेत्र में भी वह निपुण होने लगा। अपने व्यवसाय के लिए घूमता हुआ देवधर पुत्र के साथ एक दिन विशाला नगरी में पहुँचा। अति मूल्यवान पवनवेगी अश्व राजा को उपहार में देने के एवं व्यापार के लिए अनुमति प्राप्त करने के हेतु से पुत्र अघट कुमार को

लेकर देवधर राजसभा में पहुँचा। राजपुरोहित ज्ञानगर्भ की दृष्टि अघट पर पड़ी और वह चौंक उठा। शरीर पर के लक्षण देखते ही उसे विश्वास हो गया कि यह अघट कुमार ही है। एकांत में उसने राजा से बात की। राजा तो चौंक उठा। जल्लाद से सब बातें जान लीं। अब तो विश्वास हो गया। अब क्या किया जाय?

श्राद्धविधि ग्रंथ में वल्लभीभंग के इतिहास की बात आती है। मारवाड के पाली नगर में काकुआक तथा पाताक नामक दो भाई रहते थे। छोटा भाई अत्यंत धनवान और बड़ा भाई उतना ही निर्धन। कर्म का खेल देखिए कि बड़े भाई को छोटे भाई के खेतों में मज़दूरी करने का समय आया। एक दिन बड़ा भाई थकान से चूर होकर सो गया था। गहरी निद्रा में सोए हुए, काकुआक को मध्य रात्रि के समय पाताक ने जगाया। बोला, 'आपको कुछ होश है या नहीं। खेत में क्यारियों में से पानी बहार बह रहा है और आप यहाँ आराम की नींद सोए हैं? नौकरी इस तरह की जाती है क्या? हराम के पैसे कमाने हैं, क्या? उठिए और खेत पर जा कर काम कीजिए।' मन को मार कर काकुआक को उठना पड़ा। खेत पर जाना पड़ा। लेकिन वहाँ जा कर देखा तो खेत में लोग काम कर रहे थे। उसे आश्चर्य हुआ। इनमें कोई भी चेहरा परिचित न था। उसने उन लोगों से पूछा, 'इस प्रकार मध्य रात्रि के समय काम करनेवाले आप लोग कौन है?'

उन्होंने उत्तर दिया, 'हम आपके, भाई के पुण्य द्वारा खरीदे गए सेवक हैं।' ऐसा उत्तर सुनने पर काकुआक को लगा कि ये लोग इन्सान नहीं, देव हैं। देखिए कुदरत की कला ! किसी को पुरस्कार देने के हेतु से वह देवों को भी दास बना सकती है...!

'तो मेरे लिए भी ऐसा काम करनेवाला कोई मिल सकता है...?' काकुआक ने पूछा।

'तू वल्लभीपुर जा। वहाँ तेरा भाग्य खुल जाएगा।' लंबी यात्रा में अनेक कष्ट झेलता हुआ काकुआक वल्लभीपुर पहुँचा। वहाँ जाकर तेल-मिर्च मसाले आदि वस्तुओं का व्यापार करने लगा। धीरे धीरे व्यापार में प्रगति करके उसने अपनी एक छोटी सी दुकान बना ली। लोगों को काकुआक नाम बोलने में कठिनाई पड़ती थी, इसलिए सब उसे रांका सेठ कहते थे। अब उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। एक दिन एक कार्पटिक (कपडों का व्यापारी) गिरनार से वहाँ आया। गिरनार में खूब साधना करके और खोज करके अनेक प्रयोगों के बाद उसने सिद्धरस प्राप्त किया था। एक बूंद भी एक मण (२० किलो) लोहे को सुवर्ण बना दे ऐसा यह रस था। अपने प्राणों से भी अधिक जतन करके इस रस की कूपिका वह अपने साथ ले आया था। रांका सेठ की दुकान की बाजु में ही उसने

अपना मुकाम बनाया। धीरे धीरे दोनों में मित्रता हो गई। उन्हीं दिनों सोमनाथ की महिमा सुनकर उसने यात्रा के लिए जाने का निर्णय किया। इस यात्रा में ऐसी मूल्यवान वस्तु साथ में रखने के बदले रांका सेठ को सौंप कर जाने का विचार किया। सेठ के पास आ कर कहा, 'सेठ जी, मेरी यह कूपिका आप सम्हाल कर रखिये। यात्रा से जब मैं वापस आऊँगा तब मुझे दीजिएगा।'

रांका सेठ ने सरलतापूर्वक कहा, 'इस दुकान में जहाँ तुम्हें ठीक लगे वहाँ रख दो।' दुकान में ऊपर के भाग में, कूपिका को व्यवस्थित ढंग से कपड़े में बांध कर वह कार्पटिक प्रभासपाटण की ओर निकल पड़ा। एक दिन किसी कारणवश रांका सेठ ने दुकान में ही चूल्हा जलाया और उपर तवा रखा। गरमी के कारण रस की एक बूंद तवे के उपर पड़ी। काला तवा सुवर्ण का बन गया। रांका सेठ आश्चर्यचकित रह गए। दूसरा तवा लाये। गरमी बढ़ने के कारण सुवर्णरस की दूसरी बुंद तवे पर पड़ी और लोहे का यह तवा भी सुवर्णमय बन गया और चमकने लगा। रांका सेठ समझ गए कि उस कूपी में सुवर्णरस है। अब लोभ जागृत हो गया। सोचा - 'अब यह कूपिका वापस नहीं दूंगा।' और भविष्य में कोई टंटा खडा न हो इस विचार से अपनी दुकान से महत्त्वपूर्ण चीज़ - वस्तुएँ निकाल ली और दुकान में आग लगा दी। अब अनजान बन कर 'आग! आग!' चिल्लाने लगे। लोग एकत्रित हो गए और आग बुझा दी। बाद में सेठ ने नयी दुकान खोली। ढेर सारा सुवर्ण तो बना ही लिया था। अब बडे सेठ बन गए। कुछ दिनों के बाद वह कार्पटिक यात्रा कर के वापस आया। रांका सेठ ने बडे दुःखी होते हुए कहा, 'क्या करुँ मित्र! अचानक आग लग गई। सारी दुकान जल कर भस्म हो गई। इसमें छोटी सी कूपी के बचने की संभावना ही कहाँ?'

ऐसी बात सुनकर तथा सेठ की समृद्धि देख कर, उनके पहले के और आज के रहन-सहन में आसमान-जमीन का अंतर देख कर कार्पटिक को छल की कल्पना तो आ ही गई, परंतु कुछ कह भी कैसे सकता था? उसे अचानक स्मरण हो आया कि जब वह सुवर्णरस कूपिका में भर रहा था तब एक रहस्यमय ध्वनि उसे सुनाई दी थी - 'भर रांका के नाम'... एक बार तो उसने कूपिका खाली कर दी। पुनः जब उसने कूपिका भरना आरंभ किया तो वही ध्वनि सुनाई दी - 'भर रांका के नाम...।'

कार्पटिक ने किसी भी प्रकार संयोगों से समाधान कर लिया, मन को समझा लिया - 'यह सुवर्णरस की कूपी मेरे भाग्य में नहीं, रांका सेठ के भाग्य में थी। खैर...! जो हुआ सो हुआ।' करोडों रुपयों का सुवर्ण बना सके उतना रस गँवाया था फिर भी कर्मसत्ता के निर्णय को शिरोधार्य करनेवाले कितने स्वस्थ

रह सकते हैं। इतने बड़े नुकसान को भी कितनी सहजता से स्वीकार कर लेते हैं और क्रोध, द्वेष तथा प्रतिशोध की प्रक्रिया से बच सकते हैं!

पुरोहित ने अघट की माता द्वारा सगर्भावस्था में देखे गए स्वप्न पर से तथा नवजात शिशु के शरीर पर दिखाई दे रहे लक्षणों को देखकर स्पष्ट भविष्यवाणी की थी कि यह बालक राजा बनेगा। उसकी हत्या करवाने का स्वयं प्रयत्न किया फिर भी कुदरत ने उसे आश्चर्यजनक रूप से बचा लिया है, इतना ही नहीं, उस जीर्ण उपवन को नवपल्लवित करके उसकी महिमा में वृद्धि की। दूसरी बार तो अत्यंत क्रूर जल्लाद को सौंपा तो अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी स्वयं जल्लाद ने उसे बचा लिया, मेरी आज्ञा का भी अनादर किया।

राजा सुघट यह सब कुछ जो जानता है उस पर से अघट को राजा बनाने के कुदरत के निर्णय का स्वीकार कर सकता था। 'ठीक है! उसके भाग्य में है तो भले वह राजा बने।' 'परंतु वही होता है जो भगवान को - (कुदरत को) स्वीकार्य है' इस सत्य को शिरोधार्य करने की तैयारी उसकी नहीं थी। मैं राजा हूँ, सत्ताधीश हूँ। जो मुझे पसंद नहीं है मैं कभी नहीं होने दूंगा - ऐसी विचारधारा थी उसकी और इसी कारण से जिस प्रकार हारनेवाला जुआरी दुगुने जोश से खेलता है, उस प्रकार राजा ने अघट को दूनियाँ से मिटा देने के लिए नये दाँवपेच खेलना शुरु किया। 'शस्त्रविद्या में निपुण इस अघट की मुझे अत्यधिक आवश्यकता है' इत्यादि देवधर को समझाकर अघट कुमार को अपने पास रख लिया। मथुरा के प्रांत की व्यवस्था सम्हालने के लिए उसे मथुरा भेजा। मथुरा पहुँचने पर अघट का मथुरा की प्रजा द्वारा भव्य स्वागत हुआ। अल्प समय में ही वह समझ गया कि राज्य व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए कुशल अधिकारियों का तथा राज्य की सुरक्षा हेतु सुदृढ सैनिकों का होना अति आवश्यक है। उसने अपने वतन से ऐसे एक हजार मनुष्यों को बुलाकर यथा स्थान नियुक्त कर दिया। अब वह मथुराधीश सम्राट बन कर राज्यव्यवस्था सम्हालने लगा। इस समाचार से राजा सुघट बहुत झुंझलाये। अब इसके जीवन को कैसे समाप्त किया जाय? उन्होंने एक युक्ति ढूँढ ली। अघट कुमार को उन्होंने विशाला बुला लिया। 'राजकुमार विक्रमसिंह युद्धभूमि पर लड़ रहा है। तुम्हें उसकी सहायता के लिये जाना है। लश्कर तैयार करो।'

अघट कुमार तो अत्यंत प्रसन्न हो गया। उसके मन में कोई शंका नहीं है। 'महाराज! आपने मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है यह कार्य सौंप कर। मैं कल प्रातःकाल ही प्रयाण कर लूंगा।'

'ठीकहै! तुम तैयारी करो। मैं राजकुमार पर पत्र लिख कर देता हूँ।' राजा ने कहा।

दूसरे दिन राज्य की मुद्रावाला बंद पत्र लेकर अघट ने अपनी सेना के साथ प्रयाण किया। इस पत्र में उसे तालपुट विष देने की बात है इस बात की उसे कल्पना ही नहीं है। आगे बढ़ तेबढ़ तेएक दिन पूरी सेना उस जंगल में उस यक्ष के मंदिर के पास पहुँची। बाल्यावस्था में उसने इसी यक्ष की दाढ़ीके साथ क्रीडा की थी और इसी यक्ष ने देवधर को स्वप्न में बालक का पालन करने के लिए कहा था... इनमें से अघट को कुछ भी पता नहीं है। वह तो अपने विशिष्ट पुण्यके कारण कुदरत का लेनदार बनकर आया है। कुदरतको सावधान रहना ही पड़ेगा। कुदरत ने आज पुन: यक्ष के अवधिज्ञान को इस जंगलस्थित मंदिर की ओर मोड़ा। देव ने अवधिज्ञान से अघट कुमारको देखा और उसे पहचान लिया। अवधिज्ञान के बल से ही पत्र में लिखे हुए संदेश की बात जान ली और अपनी दिव्यशक्ति से ऐसे ही हस्ताक्षर में संदेश को बदल कर लिखा - इस पत्र को लेकर आनेवाले के साथ राजकुमारीका विवाह कर दिया जाय।

अघट अपने सैन्य के साथ कुमार विक्रमसिंह के पास पहुँचा। राजा का पत्र विक्रमसिंह को दिया। राजा के हस्ताक्षर तथा राजमुद्रा से अंकित पत्र के विषय में शंका के लिए स्थान ही कहाँ? जोशी को पूछ नेपर उन्होंने निकट में ही श्रेष्ठ मुहूर्त बताया। पिताजी ने भी वहाँ मुहूर्त निकलवाया होगा और श्रेष्ठ मुहूर्त निकटही होने के कारण राजकुमारीको वहाँ बुलाना असंभव समझ कर यहीं पर तत्काल विवाह कर देने के लिए पिताजी ने लिखा होगा ऐसी कल्पना राजकुमार ने की। और अघट कुमारकी शादी हो गई। जब सुघट राजा को यह समाचार मिले तब उन पर तो मानों वज्राघात ही हुआ। इतना हो जाने के बाद भी वे कोई बोधपाठ लेने के लिए तैयार नहीं है। अब अघट को इस दूनियाँ से दूर करने के लिए वे नई चाल चलने के लिए तैयार हो गए। भले ही इस चाल के परिणाम स्वरूप अपनी ही पुत्री का सौभाग्य खंडितहो! राजा ने अघट को विशाला आने का निमंत्रण भेजा। अघट को आश्चर्य हो रहा था। कहाँ युद्ध की बात और कहाँ विवाह और अब विशाला नगरी की ओर प्रयाण! नवविवाहिता पत्नी और साले विक्रमसिंह आदि के साथ वह विशाला पहुँचा। राजा एवं प्रजा ने उन सब का भव्य स्वागत किया। राजा ने एकांत में अघट से कहा, 'तुम्हारा विवाह तो हो गया, किन्तु एक विधि बाकी है।' अघट ने पूछा- क्या?

कल कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात को कुलदेवी को नैवेद्य धरना है। अघट ने विधि के लिए जाने की बात का स्वीकार कर लिया। राजा ने नैवेद्य तैयार

करवाने के साथ साथ हत्यारों को भी तैयार किया। 'मध्यरात्रि के समय नैवेद्य का थाल लेकर जो आये उसका काम तमाम कर दिया जाय'। ऐसी सख्त सूचना उनको दे दी। चतुर्दशी की रात आई। समय हुआ। इस विदा को अंतिम विदा समझते हुए राजा ने अघट को विदा किया। पूजा की सामग्री और नैवेद्य का थाल लेकर अघट निकला। बाहर आते ही विक्रमसिंह मिला। उसने अघट से पूछा- इस समय किस ओर जा रहे हैं? अघट ने पूरी बात बताई।

विक्रमसिंह ने कहा, 'जीजाजी! मंदिर तो बहुत दूर है। मार्ग विषम है। अंधकार घना है। आप इस स्थान से एकदम अपरिचित हैं। विधि ही पूर्ण करनी है तो पूजा की सामग्री मुझे दे दीजिए। मैं उस मंदिर में अनेक बार गया हूँ। मार्ग भी मेरे लिए परिचित है। मैं वहाँ जाकर कुलदेवी के आगे नैवेद्य धर दूंगा।' अघट ने सामग्री कुमार को सौंप दी। राजकुमार मंदिर पहुँचा और बेचारा उन हत्यारों के द्वारा छोड़े गए तीरों से बिंध गया।

प्रभात के समय राजा को समाचार मिले। राजा को भयंकर आघात हुआ। परंतु इस अनपेक्षित आघात ने राजा के चिंतन की दिशा ही बदल डाली। उसके पश्चात्ताप की कोई सीमा न रही। 'विधि के लेख कौन मिटा सकता है?' अब इस सनातन सत्य का उसने स्वीकार किया। हारी हुई बाजी को सुधारने तथा अपने पापों का प्रायश्चित्त करने हेतु उसने अघट कुमारको राज्य सौंप दिया और स्वयं संयममार्ग का स्वीकार किया। कठोरसाधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया। विहार करते हुए एक बार विशाला नगरी पधारे। राजा अघट वंदना करने आया। सभी ने अमृतमय देशना का पान किया। अंत में राजा ने अपने मन में उलझे हुए प्रश्न का समाधान करने के लिए पूछा, 'प्रभु! मेरे जीवन में उतार चढ़ावक्यों आये?'

अघट कुमारके प्रश्न का उत्तर देने के लिए केवली भगवंत ने अतीत के आवरण खोल दिये ...!

विदर्भ देश, कुंडिनपुरनगर, पुरंदर राजा, राजकुमार गजभंजन...। एक दिन उद्यान में खेलते हुए कुमार ने तपस्वी मुनिराज को देखा। तप के तेज को देखने के बदले कुमार की दृष्टि मुनिराज के मलिन वस्त्र और गात्र पर गई और मन में जुगुप्सा के भाव उठे ...'ऐसे मलमलिन मुनि! कितने गंदे..!' इस अपराध के दंड स्वरूपजन्म लेना होगा दासी की कुक्षी से..! परंतु कुमार का मित्र भावुक था। वह मुनि के चरणों में वंदना करके बैठा।उसके साथ कुमार भी बैठा।महात्मा ने अहिंसा एवं दया की महत्ता समझाते हुए देशना दी जिसने कुमार के हृदय को छू लिया। उसने प्रतिज्ञा ली - 'निरपराधी त्रसजीव को मैं कभी मारुंगा नहीं।'

एक मास के उपवासी उन महात्मा को वहोराने का लाभ भी उसने लिया।

उन दिनों नवरात्रि के दिनों में भैंसों का वध करने की कुप्रथा चल रही थी। राजा पुरंदर ने कुमार गजभंजन को आज्ञा दी - 'इस बार भैंसों की बलि तुम्हें चढ़ानी है। लो यह तलवार।' कुमार द्विधा में पड़ गया। एक ओर प्रतिज्ञा, दूसरी ओर राजाज्ञा। राजा के बार बार कहने के कारण तलवार उठाई, परंतु प्रतिज्ञा पालन का विचार आते ही तलवार बीच में ही रुक गई। पुन: राजा का संकेत, पुन: तलवार उठाकर वार करने का प्रयास, लेकिन भैंसों की गरदन के पास आ कर तलवार रुक गई। चार बार ऐसा ही हुआ। इसीलिए चार बार अघट के प्राण हरने के लिए प्रयास हुए और हर बार प्रयास निष्फल रहे। अंत में गजभंजन ने राजा से कहा, 'मुझसे यह वध नहीं हो सकेगा। मेरी प्रतिज्ञा का पालन मैं अपने प्राण देने पड़े तो देकर भी करूंगा।' ओर जीवनभर उसने अपनी प्रतिज्ञा निभाई।

पूर्वजन्म की बात सुनने पर अघट को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अब तो उन्होंने अपनी आत्मा को वैराग्य के रंग में रंग लिया, संयम ग्रहण किया और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया।

इस बात से यह स्पष्ट होता है कि यदि कर्मसत्ता के न्यायालय ने दंड निश्चित नहीं किया है - तो राजा के समान सत्ताधीश भी चाहे कितना भी प्रयास करे तो भी अपनी इच्छानुसार दंड नहीं कर सकता। अरे! इसके विपरीत उसके सज़ा करने के वही प्रयास उस जीव को भव्य पुरस्कार प्रदाता बन जाते हैं। क्या इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि सुकृत करते करते कर्मसत्ता के लेनदार बने रहने में ही मज़ा है...?

इसी बात का एक अन्य दृष्टांत है मयणासुंदरी!

मयणा के पिता को घमंड था कि मैं जिसे चाहूँ उसे सुखी और जिसे चाहूँ उसे दु:खी बना सकता हूँ। लेकिन कर्मसत्ता में संपूर्ण विश्वास रखनेवाली मयणा पिता की बात का स्वीकार नहीं करती है। वह कहती है : 'जो कुछ कर्म के द्वारा होता है वही होता है।' तो अब उसके पिता राजा प्रजापाल सोचते हैं : यह मयणा मेरे सामर्थ्य की अवगणना करती है... तो अब मैं भी उसे दिखा दूँ कि मैं उसे कितनी दु:खी कर सकता हूँ और मेरी बात का स्वीकार करनेवाली सुरसुंदरी को कितनी सुखी कर सकता हूँ।'' ऐसे विचार करते हुए क्रोधित राजा ने सुरसुंदरी को जो पसंद था उस अरिदमन नामक राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। मयणा सुंदरी का विवाह राजा ने उंबर राणा नामक एक कोढी के साथ कर दिया। लेकिन हुआ वही जो कर्मसत्ता को करना था।

कोढी व्यक्ति के साथ विवाह करके राजा मयणा का जीवन उज़ाड देना

चाहते थे। परंतु कर्मसत्ता उसे किसी प्रकार की सज़ा देना नहीं चाहती थी। कर्मसत्ता तो मयणा को पुरस्कृत करना चाहती थी। इसलिए कर्मसत्ता ने उंबरराणा के रूप में परम सौभाग्यवान पुण्यनिधान श्रीपालकुंवर को भेजा था। उनसे विवाह कर के मयणा सुखी नहीं, महा सुखी हुई। जब कि सुरसुंदरी को कर्मसत्ता सज़ा देना चाहती थी। भाग्यवान समझ कर जिस के साथ विवाह किया था वह राजकुमार कायर निकला और जीवन निर्वाह हेतु सुरसुंदरी को नृत्यांगना बनना पड़ा।

इस एक चिरंतन सत्य को हमें अपने मानस पर - अपने अंत:करण में दृढतापूर्वक अंकित कर देना है कि कर्मसत्ता जब पुरस्कार देना चाहती है - सज़ा नहीं, तब कोई कितना भी समर्थ मनुष्य उसे परेशान करने के लिए, चाहे अपनी पूरी ताकत लगा ले फिर भी वह उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है कि किसी को भी परेशान करने की सत्ता किसी भी जीव के पास है ही नहीं और जब ऐसी सत्ता ही नहीं है तो कोई भी जीव (जेलर) कितना भी चाहे या प्रयास करे, कर्मसत्ता के द्वारा जो निश्चित नहीं हुई है, ऐसी कोई भी सज़ा नहीं कर सकता। अत: दुन्यवी कारागार का जेलर कभी निश्चित सज़ा से भी अधिक पीड़ा भले दे, कुदरत के न्यायालय का जेलर स्वेच्छा से अंशमात्र भी वृद्धि निश्चित सज़ा में कर नहीं सकता, ना तो कुछ परिवर्तन भी कर सकता है। और अगर कर्मसत्ता ही सज़ा करना चाहती है तो मनुष्य चाहे कैसी भी व्यवस्था करे तो भी उस सज़ा से बच नहीं सकता। ऐसे संयोगों में रक्षक भी भक्षक बन सकता है।

इन्दिरा गांधी की हत्या किसने की? स्वयं उनके अंगरक्षकों ने ही ना? क्या इन्दिराजी की सुरक्षा व्यवस्था मजबूत नहीं थी? उनका निवासस्थान दिल्ली के सफदरगंज मार्ग पर। उनकी सुरक्षा हेतु आम वाहनव्यवहार को वहाँ से जाने नहीं दिया जाता। सब दूसरी ओर से चक्कर लगा कर जाते हैं। कहीं कोई त्रासवादी बमविस्फोट कर दे तो?

इसके अतिरिक्त उनके बोडि गार्ड प्रति सप्ताह रीहर्सल किया करते थे। कहीं कोई त्रासवादी कहीं से अचानक आ जाय तो प्रधान मंत्री की रक्षा किस प्रकार की जाय? अगर वह गोली दागना शुरु कर दे तो उसकी गोलियाँ अपने शरीर पर झेल कर भी प्रधान मंत्री को बचा लिया जाय। इस रिहर्सल के समय वे लोग जो त्वरा और चपलता का प्रदर्शन करते थे उसमें से कुछ भी चातुर्य सचमुच जब हत्या हुई तब दिखा न सके।

प्रधानमंत्री के निवास स्थान के पीछे चौबीस घंटे एम्ब्युलन्स तैयार रखी

जाती थी। हत्या के दिन भी एम्ब्युलन्स तो थी, परंतु न तो उसका ड्राइवर था न किसी के पास उसकी चाबी थी। इस कारण से उन्हें एम्बेसेडर कार में ले जाना पड़ा था।

दिल्ली की जिस अस्पताल में VIP लोगों का उपचार किया जाता है उस एम्स - All India Institute of Medical Sciences के साथ प्रधान मंत्री के निवास स्थान का वायरलेस संदेशव्यवहार था। यहाँ कुछ भी हो तो तत्काल अस्पताल में संदेश दिया जा सकता था। परंतु अंग्रेजी में एक कहावत है - मेन सपोझीस, गोड डिस्पोझीस. मनुष्य अनेक योजनाएँ बनाता है परंतु भगवान उन योजनाओं को उलट देता है - बिगाड़ देता है.. यह तो पश्चिम की कहावत है। हम ऐसा नहीं मानते हैं। भगवान कभी किसीकी बाजी पलट तेनहीं, बिगाड ते नहीं। वे तो बाजी सुधारनेवाले हैं। हम तो कहते हैं - मेन सपोझीस, कर्मसत्ता डिस्पोझीस...मनुष्य योजना बनाता हैं, कर्मसत्ता उन्हें पलट देती है।

करीबन बीस वर्ष का एक युवक। विवाह करके सुखमय जीवन जीने के मनोरथ...। मातापिता ने चार-छ : परिवार देखे। एक युवती पसंद आई। उसके परिचित कई लोगों से उसके बारे में जानकारी प्राप्त की। सबके अच्छे अभिप्राय मिलने पर उस युवती से विवाह किया। साल - डेढ साल तो शांतिपूर्वक बीते। परंतु बाद में मूल स्वभाव प्रकट होने लगा। एकदम पीत्तल! ऐसी झगडालू... निमित्त मिलते ही पूरा घर सिर पर उठा लेती। बेचारा पति अत्यंत सावधान रहने लगा। ऐसा कोईनिमित्त पत्नी को मिले ही नहीं इसका पूरा ध्यान रखता है। कुछ भी बोलने से - करने से पहले दस बार विचार करता है कि इसका परिणाम क्या होगा? फिर भी उसकी पत्नी...! कोई न कोई बहाना ढूँढकर झगड़ा शुरु कर देती है। जीवन विषमय बन गया है। पति सोचता है - औरों को तो शांत, स्नेहमयी पत्नी मिली और मुझे ऐसी झगडालूपत्नी क्यों? मेरे गले में ही ऐसा फंदा क्यों?

पंद्रह में से एक पशु के गले में लकडा बाँध दिया गया हो तो दोष लकड़े का नहीं, पशु का होता है। उसी प्रकार झगडालू पत्नी मिले तो दोष किसका मानना चाहिए? हाँ, पति का ही। जिसे कर्कशा पत्नी मिली हो उसे समझ लेना चाहिए, कि पूर्वजन्म में स्वयं निरंकुश रहा होगा। किसी के अंकुश में नहीं रहा होगा। कुदरत ने सोचा - इसे वश में लाना है तो उसके गले में एक लकड़ा बाँध देना चाहिए और यह लकड़ा बांध दिया। सुखी जीवन जीने की सभी कल्पनाओं को कुदरत ने, कर्मसत्ता ने dispose कर दिया।

पत्नी झगडालू है अथवा उसका स्वभाव अत्यंत विचित्र है अथवा

शंकाशील है अथवा पति अत्यंत गरम स्वभाव का है या शराबी है। सारा दिन घर में ही पड़ा रहता है, कुछ काम नहीं करता है। ऐसे किसी भी कारणवश जिन के दाम्पत्य में कटुता भर गई हो उस पति या पत्नी को अपने जीवनसाथी को दोषित मान कर व्यथित होने के बदले 'मेरे पूर्वजन्म के अपराधों की सज़ा कर्मसत्ता ने दी है' ऐसा सोच कर परिस्थिति का स्वीकार कर लेना चाहिए जिससे मन को शांत बनने में सहायता मिले और जीवनसाथी के प्रति उत्पन्न होनेवाले द्वेष - वेर आदि भावों से दूर रहने के कारण नये पापों से बचा जा सकता है। बात यह है। मेन सपोझीस कर्मसत्ता डिस्पोझीस...

प्रधानमंत्री की सुरक्षा हेतु अस्पताल के साथ वायरलेस संदेशव्यवहार की व्यवस्था थी, परंतु कर्मसत्ता किसे कहते हैं? मनुष्य द्वारा की गई मज़बूत व्यवस्था को भी तहस-नहस कर देने में उसे कितनी देर लग सकती है? इन्दिराजी की हत्या के दिन ही वह वायरलेस संदेशव्यवहार बिगड़ गया था। एम्बेसेडर कार में उन्हें अस्पताल लेकर गए तब ही डॉक्टरों को इस हादसे के बारे में पता चला। पूर्व तैयारी करने के लिए डॉक्टरों को समय भी न मिल सका।

इन्दिराजी का ब्लड ग्रुप था आर.एच. नेगेटीव। इस ग्रुप का रक्त हमेशा अस्पताल में पर्याप्त मात्रा में रखा जाता था, परंतु उस दिन इस ग्रुप का रक्त था ही नहीं।

स्टेनगन द्वारा पूरी तीस गोलियाँ इन्दिराजी के शरीर में दाग देनेवाले सतवंत सिंघ और बियंतसिंघ को सरकार ने इन्दिराजी का काम तमाम करने के हेतु से नियुक्त नहीं किया था, बल्कि उनकी सुरक्षा हेतु नियुक्त किया था। उनको दी गई स्टेनगन एवं उनमें भरी गई गोलियाँ भी उनकी सुरक्षा हेतु ही दी गई थीं।

परंतु जब कर्मसत्ता रुठ जाती है तब रक्षक भी भक्षक बन जाता है।

मानवी चाहे कैसी भी व्यवस्था करे, सानुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करने का प्रयास करे, परंतु कर्मसत्ता अगर सज़ा करना चाहती हो तो मनुष्य की सारी व्यवस्था को कर्मसत्ता निष्फल बना सकती है। एकाद अनुकूलता को भी ऐसी प्रतिकूलता में वह रुपांतरित कर सकती है अथवा कोई एकदम नया परिबल इस प्रकार से उपस्थित कर देती है जिससे अंत में जीव के लिए वह सज़ा ही बन जाती है। शास्त्रों में ऐसे अनगिनत दृष्टांत देखने को मिलते हैं।

३. सज़ा करनेकी रीत...

किसीएक शहर में विधवा बहन, उसके दो भाई और दो भाभियाँ... पाँच व्यक्तिओं का एक परिवार रहता था। भाई और भाभिओं को बहन के प्रति बहुत ही आदर और प्रेम का भाव था, फिर भी बहन के मन में एक असुरक्षा का, शंका का भाव जागृत हुआ - आज तो सब के मन में प्रेमभाव है, परंतु कल का क्या भरोसा? मुझे घर से निकाल तो नहीं देंगे? इसलिये, परीक्षा करके देखूं।

एक दिन बड़े भाई को बाहर से आते देखकर भाई सुन सके उस तरह से बहन ने भाभी से कहा, 'हमेशा अपने हाथ साफ रखने चाहिए।' बहन की बात सुनकर भाई सोचने लगा, 'मेरी बहन मेरी पत्नी को ऐसी सीख क्यों दे रही हैं? अवश्य मेरी पत्नी ने कोई चोरी की होगी।' उसने पत्नी के साथ बात करना ही बंद कर दिया, व्यवहार ही कम कर दिया। थोड़े दिनों में ही पत्नी झुंझला उठी और अपनी ननद से बात की। बहन सब समझ गई और अपने भाई से कहा, 'तुम कल्पना करते हो, ऐसा कुछ भी नहीं है। मैं तो सहज ही सीख दे रही थी कि कभी भी चोरी का विचार न आ जाय उसके लिए सावधान रहना चाहिए।' बहन द्वारा की गई स्पष्टता से भाई के मन की शंका का समाधान हो गया और पत्नी के साथ उसका व्यवहार पूर्ववत् हो गया। बहन को भी प्रसन्नता हुई कि भाई-भाभी के मन में मेरा महत्त्व है।

कुछ दिनों के बाद छोटा भाई दुकान से आ रहा था तब वह सुन सके उस प्रकार बहन ने छोटी भाभी से कहा, 'अपनी साडी को सम्हालना'। छोटा भाई यह सुनकर विचार में पड़ गया-'मेरी बहन ने ऐसा क्यों कहा? अवश्य मेरी पत्नी दुराचारिणी होगी।' यह सोचकर उसने अपनी पत्नी से संबंध ही तोड़ दिया। पत्नी बेचारी भारी चिन्ता में डूब गई। अंत में अपनी ननद से बात की। ननद ने योग्य अवसर पा कर छोटे भाई को समझाया, 'भाई ! तुम्हारी पत्नी तो सती के समान पवित्र है। परंतु कभी मन में परपुरुष का विचार भी न आ जाय ऐसी सावधानी रखने के लिए ही मैंने कहा था,।' छोटा भाई नि:शंक और संतुष्ट हो गया और पत्नी के साथ पूर्ववत् व्यवहार शुरु कर दिया। बहन भी प्रसन्न और निश्चिंत हो गई। सब मेरी बात मानते तो है...। परंतु अनजाने में ही दोनों भाभिओं पर आरोप आये ऐसा व्यवहार करने का अपराध तो उसने कर ही लिया। वैधव्य दशा में आराधनाएँ तो अनेक की परंतु इस अपराध का प्रायश्चित्त नहीं किया...।

अब, कर्मसत्ता की सज़ा करने की रीत देखिए। दूसरे भव में विधवा बहन ने एक सेठ के घर पुत्री के रूप में जन्म लिया। दोनों भाई दूसरे नगर में एक सेठ के दो पुत्रों के रूप में उत्पन्न हुए। उनमें से एक भाई के साथ इस श्रेष्ठीकन्याका विवाह हुआ। विवाह की प्रथम रात्रि के समय ही आकाशमार्ग से जा रहे किसी व्यंतर को मज़ाक करने की इच्छा हुई। समझिए कि कर्मसत्ता ने ही उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। वह नवविवाहिता श्रेष्ठीकन्याशयनखंड में पति की प्रतीक्षा कर रही थी वहाँ वह व्यंतरदेव उसके पति का रूप लेकर शयनखंड में प्रविष्ट हुआ और उसके साथ बातें करने लगा। नववधू को कुछ पता नहीं था। वह तो उसको ही अपना पति मान कर प्रेमालाप करने लगी। बाहर से पति ने पत्नी की बातें सुनीं। उसने सोचा 'विवाह की प्रथम रात्री के समय ही मेरी पत्नी परपुरुष के साथ इस प्रकार बातें कर रही है! निश्चितरूपसे वह दुराचारिणी है...। मैं उससे कैसे संबंध जोड़ सकता हूँ?' पत्नी का त्याग करके वह वहाँ से निकल गया। पत्नी के माता-पिता से कह दिया, 'मुझे यह विवाह स्वीकार्य नहीं है।' श्रेष्ठीकन्याको बहुत आघात हुआ परंतु बाद में संसार के प्रति विरक्ति हो गई और उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। अब सुंदर साध्वी जीवन जीने लगी।

अब दुसरी ओर... पूर्वजन्म की दोनों भाभिओं के साथ इन दोनों भाइओं का विवाह हुआ। साध्वीजी महाराज भी विहार करते हुए उसी नगरी में पधारी हैं। पूर्वभव की प्रीति के कारण दोनों पत्नियों को उन पर प्रेमभाव और भक्तिभाव था और इस कारणसे दोनों प्रतिदिन उनकी सेवा-वैयावच्च करने जाती थीं। गोचरी के लिए विनंती करती थीं। एक दिन साध्वीजी उनके घर भिक्षा लेने गई। वहाँ उपदेश दे रही थीं। उस समय एक बहु अपने गले का हार बाहर छोड़ कर कुछ काम से अंदर गई। बाहर अकेली साध्वीजी थीं और सामने हार पड़ा था। तब दीवार पर के चित्र में चित्रित मोर चित्र में से सजीव हो कर बाहर आया और हार लेकर चला गया। (किसी देव ने पुन: यह उपहास किया था।) अब हार चोरी करने का आक्षेप साध्वीजी पर लगा। गुरुणीने भी सख्त शब्दों में कहा, 'गृहस्थ के घर में रुकने की आवश्यकता ही क्या थी? वहाँ रुकीं ही किसलिए? अब इस कलंक को धोने के लिए सागारिक अनशन करो..।' गुरुणी की आज्ञा का पालन करते हुए साध्वीजी कायोत्सर्ग में खडी रहीं। शुभ भावों की धारा बढ़ती गई और साध्वीजी ने शुक्लध्यान पर आरूढ होकर केवलज्ञान प्राप्त किया। लोग एकत्रित हो गए। उसी समय मोर आया और हार वहाँ रख दिया। सब आश्चर्यचकित हो गए। पूछने पर केवलज्ञानी साध्वीजी ने पूर्वभव का संपूर्ण वृत्तांत सब को सुनाया।

कर्मसत्ता के सामर्थ्य की ऐसी ही बात गुणसेन और अग्निशर्मा की भी

है ना!

अग्निशर्मा के पारणे के दिन ही गुणसेन के सिर में भयंकर वेदना क्यों उठे? दूसरी बार भी पारणे के दिन ही - एक भी दिन आगे या पीछे नहीं - अचानक युद्ध की नोबत क्यों आ जाय? भीष्म तपस्वी के दो-दो मासक्षमण का पारणा अपनी ही गलती के कारण चुक गया है। अग्निशर्मा ने तीसरा मासक्षमण तप आरंभ कर दिया है। तप के साथ साथ उसकी समता में भी वृद्धि होती जाती है। यही कारण है कि गुणसेन के अहोभाव में भी वृद्धि हो रही है, भक्ति बढ़ती जाती है। दो दो बार पारणा चुकाने के कारण अपार पश्चात्ताप का अनुभव वह कर रहा है और इसी कारण से किन्ही भी संयोगों में तीसरी बार भूल न हो जाय इसके लिए वह पूर्ण रूप से सावधान हो गया है। पारणा का लाभ लेने की केवल आंतरिक इच्छा ही नहीं, दृढ आकांक्षा है, एक प्रकार की तीव्र उत्कण्ठा है। उनतीस दिन रहे.. अठाईस दिन रहे.. पंद्रह दिन रहे.. दस दिन रहे.. रोज का काउन्ट डाउन चालू है... सबको सावधान कर रखा है... 'याद रहे... इस बार कोई भूल न हो जाय।' अब केवल पाँच दिन ही रहे...। अब तीन... अब दो और दूसरे दिन सारे राजपरिवार को विशेष सूचना दे दी गई है कि कल किसी भी तरह भूल न हो। मैं तो सावधान हूँ ही फिर भी निमित्त आ जाय तो सब मुझे स्मृति दिलाये कि आज पारणा कराना है। स्वयं भी बार बार यही रट रहा है और दूसरों को भी बार बार रटा रहा है फिर भी ठीक पारणे के दिन ही रानी ने प्रथम पुत्र को जन्म दिया। राजपुत्र के जन्म के आनंद में सब नाच रहे थे, झूम रहे थे और इस आनंदोत्सव में पारणा किसी को याद ही न आया।

वैसे अगर सोचें तो कितना ही महान आनंद-उत्सव हो, लेकिन इतने दिनों से जिस बात को रटा जा रहा हो वह किसी भी व्यक्ति को याद न आये, यह संभव है क्या? परंतु कर्मसत्ता ने किसीको याद आने ही नहीं दिया। और जिस क्षण अग्निशर्मा पारणा किये बिना वापस लौट गए तब गुणसेन को पारणे का स्मरण हुआ।

खूब समझने की बात है यह! अग्निशर्मा चाहते है कि पारणा हो। सभी तापस भी चाहते हैं कि तपश्चर्या पूर्ण हो। कुलपति भी यही चाह रहे हैं। गुणसेन एवं उसके राजपरिवार की भी यही इच्छा है तथा उसके लिए पूरी तैयारियाँ भी हो चुकी हैं फिर भी गुणसेन के हाथों पारणा न हो सका। क्यों? क्यों कि कर्मसत्ता यह चाहती नहीं थी और होता वही है जो कर्मसत्ता ने तय किया है। और कर्मसत्ता ने जो चाहा है, वह होकर ही रहे इसके लिए कर्मसत्ता अनेक संयोगों को परिवर्तित कर देती है। अथवा कुछ ऐसे संयोगों को जन्म देती है जिससे उसकी

इच्छा सफल हो कर ही रहे। प्रथम और दूसरे पारणे के दिन शिरोवेदना, युद्ध की नौबत और तीसरे पारणे के दिन ही राजपुत्र का जन्म। प्रत्येक प्रसंग पारणे के दिन ही...! एक दिन भी पहले या बाद में नहीं! थोडीसी सहृदयता तथा सूक्ष्म विचार करने की क्षमता हो तो प्रतीत हो सकता है कि इसके पीछे कुदरत का कोई संकेत ही है और वह संकेत यह है कि कुदरत अग्निशर्मा को सज़ा देना चाहती है।

अंत:करणपूर्वक गुणसेन अग्निशर्मा का पारणा कराना चाहता है और फिर भी कर्मसत्ता ने ऐसे संयोग उपस्थित कर दिये हैं कि पारणा नहीं हो सका। अत: हमें यह समझना चाहिए कि हमें परेशान करनेवाला कोई भी जीव पूर्णत: स्वतंत्ररुप से, स्वेच्छा से हमें परेशान नहीं करता है, कर्मसत्ता ही उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित करती है।

शंका : गुणसेन के विषय में तो यह बात ठीक है। अन्यथा सामान्यत: सब अपनी इच्छा से ही दूसरों को परेशान करते हैं। इस पुस्तक में अन्यत्र जिसकी बात है उस नागकेतु के पूर्वभव में उसकी सौतेली माता स्वेच्छा से ही उसको भयंकर कष्ट देती थी ना?

समाधान : हाँ, सौतेली माता की अपनी इच्छा थी यह बात सही है किंतु वह इच्छा भी कर्मसत्ता की ही देन थी ऐसा मानना चाहिए। सुभूमचक्रवर्ती को छ: खंड का साम्राज्य मिला परंतु उसे संतोष न हुआ। मेरे पास चौदह रत्न, नव निधान, छियानबे करोड़ की सेना है। इसके अतिरिक्त सोलह हज़ार देवता मेरी सेवा में हैं। अब धातकीखंड के भरतक्षेत्र के छ: खंडोंपर भी क्यों विजय प्राप्त न करुँ? और उसने चर्मरत्न - छत्ररत्न द्वारा बारह योजन की छावनी तैयार की। छियानबे करोड सैनिकों की अपनी सेना के साथ छावनी में आरुढ हुआ। सोलह हजार देवों को आज्ञा दी कि छावनी को उठाओं। दो लाख योजन के लवण समुद्र के ऊपर उडाते हुए धातकीखंड में इसे पहुँचा दो। सभी देव काम पर लग गए। छावनी लवण समुद्र पर से उडती हुई आगे बढ़ रही है। और...

और कर्मसत्ता के न्यायालय से आदेश छूटा। एक देव ने सोचा - अन्य १५,९९९ देव इस छावनी को उठाकर ले जा रहे हैं। मैं एक अगर हट जाऊँ तो भी क्या होनेवाला है? वह देव हट गया। परंतु ऐसा विचार करके हटनेवाला वह अकेला न था। सोलह हजार देव... सब के सब एक साथ हट गए क्यों कि सब के मन में उसी समय वही विचार प्रस्फुटित हुआ था। और सुभूमचक्री को पूरी छावनी के साथ लवणसमुद्र में जलसमाधि लेनी पड़ी।

सामान्यत : देव अत्यंत निष्ठावान होते हैं। कभी भी बेवफा नहीं बनते। मेरे हटने से छावनी जल में डूब जाएगी ऐसी जरा सी भी कल्पना होती तो एक

भी देव न हट ता।क्यों कि एक भी देव की यह इच्छ ा न थी कि सुभूम डू बजाये, फिर भी प्रत्येक देव के मन में ऐसी इच्छ ा ने ही जन्म लिया जिसके फलस्वरुप वह डू ब जाय। ऐसी इच्छ ा किसकी प्रेरणा से हुई? हमें मानना ही पड़ेगा कि कर्मसत्ता ने ही सब देवों के मन में ऐसा विचार जगाया था। और इस प्रकार सुभूम को दी जानेवाली सज़ा का अमल करवा दिया...।

'भीमसेन - चरित्र' की कुछ बातें भी इसी हकीकतका सूचन करती हैं। अपने अत्यंत विषम समय में भीमसेन को पता चला कि बारह योजन की दूरी पर स्थित प्रतिष्ठ ानपुरनगर के राजा अरिंजय अत्यंत प्रजावत्सल एवं उदार हैं। हर छ :महीने में एक बार अपने राज्य में सवारी लेकर भ्रमणार्थ निकलते हैं और दु:खी लोगों के दु:ख दूर करते हैं। भूखों को भोजन, निर्धन को धन और बेकार को काम देते हैं। नौकरी में वेतन भी बत्तीस रुपये की बड़ी सी रकम देते हैं। उनका दामाद जितशत्रु तो वेतन के रुप में चौंसठ रुपये देता है। बहुत बड़ीआशा लेकर भीमसेन प्रतिष्ठ ानपुरपहुँचा। वहाँ पूछ नेपर पता चला कि राजा के दामाद जितशत्रु तो एक दिन पहले ही अपनी सवारी लेकर निकल गए थे। सभी दु:खी लोगों के दु:ख उन्होंने दूर करदिये थे। अब तो छ :महीने प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। भीमसेन को तो मानों वज्राघात हुआ। परंतु करुणार्द्र और सौजन्यशील धनसार श्रेष्ठीने उसे आश्रय दिया। छ :महीने बीत गए। वह राजा अरिंजय से मिला। राजा के पूछ नेपर उसने अपनी सारी बात सुनाई। उसकी बातों में रही हुई सच्चाई किसीके भी दिल को पिघला देने को समर्थ थी। तो यह तो परदु:खभंजन, करुणावत्सल और परोपकार को ही अपने जीवन का सर्वस्व माननेवाले राजवी हैं। भीमसेन के दु:ख वे दूर न करें यह संभव ही न था। परंतु कर्मसत्ता...! ऐसे गुणवान सहृदयी राजा को भी विचार आया 'यह मनुष्य धूर्त लगता है। अन्यथा राजा हरिषेण भी परोपकारी एवं उदार हैं। अपना नगर छ ोड़ करइसे यहाँ तक क्यों आना पड़ा? इसे काम देकर कहीं मैं फँस गया तो? जरुर कुछ गड़ बड़ होगी...' इस विचार ने उस उदार राजा को कृपण बना दिया।

'मुझे किसी मनुष्य की आवश्यकता नहीं है।' कहकरराजा ने भीमसेन को लौट ा दिया। पुन: हतप्रभ भीमसेन को धनसार श्रेष्ठ ीनेसम्हाल लिया। कहा - 'छ :महीने और रुक जा। जितशत्रु अवश्य तेरा दारिद्र्य दूर करेंगे।' आशा के तंतु के सहारे और छ :महीने भीमसेन ने बीता दिये। परंतु जितशत्रु को भी कर्मसत्ता ने ऐसी ही प्रेरणा दी। 'स्वयं राजा ने जब उसका हाथ न थामा तो मुझे भी सावधान रहना चाहिए। अवश्य दाल में कुछ काला होगा।' और भीमेसन के प्रति उसने भी कोई सहानुभूति न दिखाई। आज तक ममता और दया दिखानेवाले

धनसार श्रेष्ठ ीके मन में भी कर्मसत्ता ने शैतान को जगाया। उस धनसार श्रेष्ठ ीने न भीमसेन के शस्त्र वापस दिये और न दिया उसका वेतन। इतना ही नहीं, उसे 'धूर्त' कह कर वहाँ से भगा दिया। भीमसेन की निष्ठ ा, सद्व्यवहार, सेवा... सभी सद्गुणों को कर्मसत्ता की योजना ने धनसार की स्मृति से मिट ा दिया।

अब मिलाप हुआ श्रेष्ठ ी रत्नसार का..। रत्नसार तो सहृदयी, उदार श्रावक थे। भीमसेन की करुण कथा से वे अत्यंत द्रवित हुए और ऐसी विषम परिस्थिति में भी प्रामाणिकता का त्याग न करनेवाले भीमसेन पर अत्यंत प्रसन्न हुए। कर्मसत्ता उनके विचारों को तो बदल नहीं सकती थी अत: भीमसेन के पास ही उसने भूल करवाई। रत्नसार श्रेष्ठ ीके दिये हुए रुपये नव लाख के मूल्य के रत्नों से भरी हुई कंथा को अपने प्राणों से भी अधिक सम्हालते हुए वह क्षितिप्रतिष्ठि तनगर के बाहर तक पहुँचा। वहाँ निर्मल जल से भरा हुआ जलाशय देखकर कर्मसत्ता ने उसे स्नान करने के लिए प्रेरित किया। निर्जन स्थान को सुरक्षित समझकर वस्त्र एवं कंथा को तट पर रखकर स्नान करने के लिए वह जलाशय में उतरा और कर्मसत्ता ने - भीमसेन के लिए जो सर्वस्व थी, अपने जीवन से भी जो अत्यधिक मूल्यवान थी ऐसी कंथा का वानर के द्वारा हरण करवाया। भीमसेन को आत्महत्या का विचार करने के लिए विवश होना पड़े ऐसा कठ ोरआघात उसे देने की वानर की कोई इच्छ ा नहीं थी। उसे तो कर्मसत्ता के खेल का केवल एक माध्यम ही बनना था। रत्न ले जाकर वह तो थोडे क्षणों के लिए उससे खेलनेवाला ही था। परंतु भीमसेन तो इस खेल से अत्यंत दु:खी और व्यथित हो गया ना!

इस समय एक जट ाधारीसंन्यासी आया। वट वृक्षकी ड ालीसे गले पर फंदा लगा कर आत्महत्या का प्रयास कर रहे भीमसेन को उसने बचा लिया। उसकी हृदयद्रावक करुण आपबीती को सुनकर उसका हृदय भी करुणार्द्र हो उठ ा। उसने भीमसेन को उत्तरसाधक बनाकर चार तुंबा सुवर्णरस सिद्ध किया जिसमें से एक तुंबा रस उस संन्यासी ने निष्कपट रुपसे उदारतापूर्वक भीमसेन को देने की बात कही। अब दोनों वापस क्षितिप्रतिष्ठि तनगर की सीमा तक पहुँच गए। संन्यासी ने भोजन का प्रबंध करने के लिए भीमसेन को नगर में भेजा। इस प्रकार उसे भेजने के पीछे संन्यासी का कोई मलिन आशय नहीं था। परंतु जिस क्षण भीमसेन दूर गया कि तुरंत कर्मसत्ता ने संन्यासी की सद्भावनाओं को मलिन बना दिया। उसके मन में कपट ने जन्म लिया। 'रस का एक तुंबा भी भीमसेन को क्यों दूँ?' यह विचार उठ तेही वह संन्यासी भीमसेन के आने से पूर्व ही वहाँ से खिसक गया।

४. अपराध से डरें

हम सुरसुंदरी और अमरकुमर की कथा को भी याद कर लें। सुरसुंदरी एक राजकुमारी थी और अमरकुमार नगरश्रेष्ठी का पुत्र था। बाल्यकाल की बात है। निद्राधीन सुरसुंदरी की सात कोडी उठाकर उससे मिठाई खरीद कर अमर ने सब बालकों को बाँट दी। जागने पर, सुरसुंदरी को भी उसके हिस्से की मिठाई दी। यह मिठाई किसकी ओर से? राजकुमारी ने पूछा।

'तुम्हारी ओर से।' कह कर अमर ने सारी बात बताई। अमर ने सोचा था, 'इस मस्ती - मज़ाक से सुरसुंदरी भी खुश होगी।' परंतु हुआ इससे एकदम उलटा। सुरसुंदरी क्रोधित हो उठी।

'ऐसी चोरी करना कहाँ से सीखा?' इत्यादि वाग्बाणों से अमर का हृदय उसने आहत कर दिया।

अमर ने कहा - 'मज़ाक में किए गए काम को इतना गंभीर स्वरूप मत दे..।' परंतु राजकुमारी ने तो गंभीर कटाक्ष किया... 'सात कोडी को तू छोटी बात मानता है। सात कोडी से तो मैं राज्य प्राप्त कर सकती हूँ।' यद्यपि बाद में राजकुमारी को स्वयं ही अपनी भूल समझ में आई। उसे अपार पश्चात्ताप हुआ। दूसरे दिन अमर से क्षमा माँग कर उसका दिल जीत लिया। इस प्रसंग की असर दोनों में से न किसी के दिल में रही और न उनके परस्पर के स्नेहपूर्ण व्यवहार में।

समय बीतता गया। दोनों ने यौवन की दहलीज पर कदम रखा। योगानुयोग दोनों का विवाह हुआ। दोनों गुणवान हैं। दोनों तत्त्वज्ञ हैं, एक दूसरे से बहुत स्नेह करते हैं। सात कोडीवाली बात दोनों में से किसी को याद नहीं है और इसी कारण से दोनों परस्पर प्राणों से भी अधिक स्नेह करते थे।

एक दिन समुद्र यात्रा करते हुए वे मानवभक्षी यक्ष के द्वीप पर पहुँच गए। वहाँ के सुरम्य उपवन में दोनों प्रेमपूर्वक टहलने निकले। उस प्रसन्न वातावरण में सुरसुंदरी को निद्रा आने लगी। अमर की गोद में मस्तक रख कर वह निद्राधीन हो गई। सुरसुंदरी के रूप - लावण्यमय, प्रेमभरे निर्दोष मुख की सुंदरता का आँखों से पान कर रहे अमर के मन में अचानक सात कोडीवाला प्रसंग याद आ गया। अपना अपमान, सुरसुंदरी का अभिमान और क्रोध - इन सब की स्मृति से अमर के मन में कटुता व्याप्त हो गई। क्षण - दो क्षण में मन ऐसा कठोर हो

गया कि निद्राधीन सुरसुंदरी की साडी के छोर में सात कोडियाँ बाँध दीं। राज्य प्राप्त करके बताने का सूचन लिखा और उसे निराधार छोड़ कर वह समुद्रतट की ओर भागा। 'मानवभक्षी यक्ष आया, सुरसुंदरी को पकड़ लिया और मैं तो मुश्किल से अपने आप को बचाकर भाग आया हूँ। हमें भागना चाहिए।' अमर के ये शब्द सुन कर सब फटाफट जहाज में बैठ गए। लंगर उठा लिए गए और जहाज छूट गए। एक झंझावात की तरह यह प्रसंग बन गया। परंतु परिणाम? सुरसुंदरी बार बार भयंकर कठिनाईओं में फँसती गई जिसे पढ़ने पर किसी भी व्यक्ति की आँखे नम हुए बिना न रहे। अमर ने भी भले ही पत्नी का त्याग किया किंतु तुरंत ही वह बहुत पछताने लगा। वह हर दिन रोया है। सुरसुंदरी के प्रति उसका प्रेम पहले की तरह अक्षुण्ण ही है और इसी कारण से गमगीनी ने - उदासीनता ने उसे घेर लिया। यहाँ सुरसुंदरी ने अपने शील का जतन प्राणों से भी अधिक किया और इसके प्रभाव से ही वह इतनी बड़ी मुसीबतों में भी बच गई है। वह तत्त्व को समझती है। कर्मविज्ञान का उपयोग करके प्रत्येक आपत्ति में स्वकर्मदोष ही उसने सोचा हैं। यही कारण है कि अमर के प्रति उसके मन में न कोई रोष है न कोई दुर्भाव। उसके मन में अमर के लिए अटूट निःसीम स्नेह ही है...। बारह वर्षों के दीर्घ अंतराल के बाद दोनों का मिलन हुआ। परंतु अमर के द्वारा किए गए त्याग के कारण सुरसुंदरी को तो बारबार कठोर कष्ट सहने पडे हैं।

इन सभी दृष्टांतों मे यह तो स्पष्ट है कि उत्पीडक जीव पीडित जीव के शत्रु नहीं हैं। वैरभावना के कारण ऐसी प्रवृत्ति की है ऐसा नहीं है। केवल उस क्षण इच्छा हुई और ऐसी प्रवृत्ति कर डाली। परंतु उस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पीडित की पीडा की तो कोई सीमा ही न रही। अतः मानना चाहिए कि पीडित जीव को उस प्रकार की सज़ा करने के हेतु से ही कर्मसत्ता ने उत्पीडक जीव के मन में ऐसी इच्छा जगाई थी। और जिस प्रकार कर्मसत्ता किसी के मन में पीडित जीव को पीडा देने की अल्पकालीन इच्छा जगाती है उसी प्रकार अन्य पीडित जीव के संबंध में उत्पीडक जीव के मन में उसे दीर्घकाल तक पीडा देने की इच्छा भी जगा सकती है जिससे वह दीर्घ काल तक पीडित को कष्ट देता रहे। किसी कैदी को दस वर्ष की कारावास की सज़ा हो तो उसे दस वर्ष तक कठिन परिश्रम करवाने की जेलर की इच्छा हमें देखने को मिलती ही है, परंतु ऐसी इच्छा इतने लंबे समय तक बनी रहे उसके पीछे परिबल तो न्यायाधीश का आदेश ही होता है ना! अर्थात् कर्मसत्ता की प्रेरणा से या आदेश के कारण ही कोई भी जीव स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छा से कर्मसत्ता द्वारा दी गई सज़ा का अमल करता है ऐसा अवश्य निश्चित होता है और इसलिए यह भी निश्चित होता है कि पीडा देनेवाला जीव केवल जेलर

है। इससे अधिक वह कुछ भी नहीं है अर्थात् जीव अधिक से अधिक जेलर बन सकता है, स्वतंत्र रूप से, अर्थात् कर्मसत्ता के आदेश के बिना सज़ा देनेवाला न्यायाधीश नहीं बन सकता और इसी कारण से वह अपनी इच्छा से सज़ा में न तो अंशमात्र वृद्धि कर सकता है न कोई परिवर्तन।

प्रश्न : बात तो आपकी सब सही है, परंतु सहन करने की भी कोई सीमा होनी चाहिए ना! दुःख अवधि बढ़ती ही चली जाय, कहीं उसका अंत दिखाई ही न देता हो तो सहनशक्ति का भी अंत हो जाएगा ना?

प्रतिप्रश्न : कहिए, दुःख कितना चाहिए?

प्रतिउत्तर : दुःख चाहिए ही नहीं। सुख की ही अपेक्षा सब को होती है।

'यह तो अच्छी बात है।' एक लड़के ने रंग भरने की पिचकारी में गंदा, काला, भयंकर दुर्गंधयुक्त गटर का पानी भरा। फिर पिचकारी का पानी आकाश की ओर छोड़ते हुए प्रभु से प्रार्थना की, 'हे प्रभु! मेरे मस्तक पर गुलाबजल की वृष्टि हो!' लेकिन उसके सिर पर तो वही दुर्गंधयुक्त गटर का पानी ही गिरा। तो अब वह प्रभु को शिकायत करने लगा 'भगवान! तेरा तो कोई प्रभाव ही नहीं रहा है। मैंने इतनी प्रार्थना की फिर भी पानी तो गटर का ही पड़ा।'

कहिए! इस लड़के को क्या कहें? 'भाई! गुलाबजल की अपेक्षा थी तो पिचकारी में गुलाबजल ही भरना था, गटर का गंदा पानी क्यों भरा?'

सब के साथ ऐसा ही होता है। समय मिला, टीवी के सामने बैठ गए, संपत्ति में वृद्धि हुई... Water Kingdom... सुंदर चेहरा दृष्टि सम्मुख आया, आँखे वहीं चिपक गई... किसीने एकाद शब्द अरुचिकर बोल दिया... संक्लेश चालू, कोई वस्तु यहाँ से वहाँ रख दी कि गुस्सा उभर आया...! Let go... जाने दो... ऐसी तो बात है ही नहीं। जीवन की पिचकारी में गटर का पानी भरते ही रहना है और आशा गुलाबजल की रखनी है - यह कहाँ का न्याय? और, फिर दोषारोपण तो प्रभु के ऊपर....! 'पाँच पाँच वर्ष से पूनम को यात्रा के लिए जाता हूँ.... यह करता हूँ... वह करता हूँ... परंतु दुःख तो कम होते ही नहीं हैं...।'

निरंतर अपराध करते ही रहना है परंतु सज़ा नहीं चाहिए। ऐसा तो 'न भूतो न भविष्यति।' फिर भी मान लीजिए कि कुदरत इस बात का स्वीकार करने के लिए तैयार हो गई, तो आप लोग ही मना कर देंगे।

'ना ना... हम मना नहीं करेंगे।'

ठहरिए...सर्वप्रथम तो अपराध किसे कहते हैं यह आपको पता है?

'जी नहीं।'

नहीं, ना मत कहिए...। आप लोगों में से अनेक लोगों को पता है... मैं कहूँगा तो आप लोग भी बोलने लगेंगे। पहला प्राणातिपात (हिंसा) दूसरा मृषावाद (असत्य), तीसरा अदत्तादान (चोरी)... अठारह पापस्थानक की जो सूचि है...। संक्षेप में कहें तो प्रभु ने जिन कार्यों का, जिन बातों का निषेध किया है वे सब अपराध स्वरूप ही हैं, कुदरत ऐसे कार्यों की सज़ा देती है। दूसरे शब्दों में कहें तो कुदरत के कानून में जो अपराध स्वरूप है उन्हीं बातों को प्रभु ने पाप कहा है। जिसे सज़ा की इच्छा नहीं है उसे इन पापों से दूर रहना चाहिए।

कई लोग इस विषय में दलील करते हैं - 'मैं रात्रि भोजन को पाप नहीं मानता।' 'मैं कंदमूल खाने में पाप नहीं मानता' 'मैं अनीति को पाप नहीं मानता' इत्यादि।

'तूने चोरी की है इसलिए तुझे इतनी सज़ा दी जाती है।' न्यायाधीश ऐसी घोषणा करते हैं तब कैदी अगर कहे कि 'मैं चोरी को अपराध नहीं मानता' तो क्या उसकी सज़ा माफ हो जाती है? न्यायाधीश तो कहेंगे, 'रे मूर्ख! तूं क्या मानता है, क्या नहीं मानता है उसका यहाँ कोई मूल्य नहीं हैं। हमारे कानून में जिसे अपराध माना गया है उसकी तो सज़ा होगी ... अवश्य होगी...।'

बस, इसी प्रकार कुदरत का न्यायालय - कर्मसत्ता जीव से कहती है, 'अरे... तू किस खेत की मूली है? तेरी मान्यता का क्या मूल्य है?हमारे संविधान के अनुसार जो पाप है उसकी सज़ा तो अवश्य होगी।'

सरकार अगर ऐसा विधेयक लाना चाहे कि अब हमारे देश में न न्यायालय होंगे, न न्यायाधीश, न कारागार, न किसी प्रकार की किसी को सज़ा और इस विषय में आपकी राय जानना चाहे तो आप 'हाँ' कहेंगे या 'ना'?

'ना' ही कहेंगे। अन्यथा हमारा तो जीना ही दूभर हो जाय।

ठीक उसी प्रकार कभी कुदरत आपसे पूछे 'बोलो, कर्मसत्ता के न्यायालय को dissolve कर दिया जाय?' तो आप लोग हाँ कहेंगे या ना?

'ना कहेंगे।'

यह 'ना' अंतःकरणपूर्वक कह रहे हैं या केवल जबान से? सामान्यत : मन में यह विचार होता है कि दूसरों के लिए तो यह न्यायालय होना ही चाहिए, केवल मुझे उससे मुक्ति मिलनी चाहिए। अर्थात् कोई मुझे परेशान करे, असत्य बोले, मेरे साथ अनीतिमय आचरण करे, मुझ पर क्रोध करे तो उसे सज़ा मिलनी चाहिए। परंतु मैं किसी को परेशान करूं, मैं असत्य बोलूं, चोरी करूं, क्रोध करूं तो मुझे सज़ा नहीं होनी चाहिए।

लेकिन कुदरत बहुत ही उदार है। 'औरों को सज़ा, मुझे नहीं' इस माँग का स्वीकार करने के लिए भी तैयार है। परंतु कुदरत कहती है - जैसा तुम कहते हो वैसा ही तुम्हारा पडोसी भी कहता है... सभी जीव ऐसा ही कहते हैं... और मेरी दृष्टि में तो न कोई अपना है न कोई पराया, इसलिए मुझे तो सब की बात माननी चाहिए। अतः या तो किसी को भी सज़ा नहीं, या सब को सज़ा। इन दो विकल्पों में से किस विकल्प को मान्य किया जाय? अगर कुदरत इसका निर्णय आप पर छोड़े तो आप कौनसा विकल्प चुनेंगे?

'सब को सज़ा।'

इस विकल्प का अर्थ क्या है यह आप जानते हैं? इसका जो अर्थ होता है वह हमें प्रतिदिन प्रभु के समक्ष बोलना है। इसका अर्थ है - प्रभु! मन-वचन-काया से यदि मैं किसीको भी आहत करूँ, दुःख पहुँचाऊँ तो मुझे सज़ा अवश्य होनी चाहिए। मैं कटु वाणी बोल कर किसी के मर्म पर घाव करूँ... मुझे सज़ा होनी चाहिए, अन्यथा सर्वत्र अराजकता फैल जाएगी। प्रभु... यदि मैं असत्य बोलूँ... मुझे सज़ा होनी ही चाहिए...। प्रभु! मैं चोरी करुं... अनीति करुं... विश्वासघात करुं... मुझे सज़ा मिलनी ही चाहिए। अर्थात् एक रुपये की अनीति के परिणामस्वरूप मुझे कम से कम दस रुपये का नुकसान होना ही चाहिए, अन्यथा दुनियाँ की व्यवस्था बिखर जाएगी। भगवन्! किसीकी माता-पुत्री-बहन की ओर मैं बुरी नज़र से देखूं तो मुझे दंड मिलना ही चाहिए, अन्यथा दूनियाँ में अंधेर हो जायेगा। मैं क्रोध करूँ तो मुझे सज़ा दी जानी ही चाहिए...। यह प्रार्थना - ये शब्द हमें प्रतिदिन भगवान के पास बोलने चाहिए।

अर्थात् निश्चित यह हुआ कि विश्व में व्यवस्था बनी रहे इस के लिए अपराध की सज़ा की व्यवस्था होनी ही चाहिए। मैं अपराध करूँ तो मुझे भी सज़ा मिलनी ही चाहिए। अगर मैं सज़ा अर्थात् दुःखों की पीड़ा भोगना नहीं चाहता तो मुझे स्वयं अपराध - पाप का आचरण बंद करना ही चाहिए।

कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'पाप के संस्कार इतने दृढ हो गए हैं कि पाप तो होते ही रहेंगे। परंतु स्वयं कुदरत ही अपने नियम, अपने कानून बदल दे तो? अर्थात् पाप को अपराध मान कर सज़ा करने के बदले उसे सत्कार्य मान कर उसके लिए पुरस्कार देना आरंभ कर दे तो हमें किसी प्रकार की तकलीफ नहीं रहेगी।'

परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर लिखकर आया हुआ लड़का अपनी माँ से कहने लगा 'मम्मी! कोलंबो भारत की राजधानी बन जाए तो..?'

माँ ने पूछा, 'बेटा, ऐसा क्यों कह रहा है? कोलंबो तो श्रीलंका की

राजधानी है।'

बेटे ने उत्तर दिया - 'मम्मी! मैंने पेपर में ऐसा लिखा हे...।'

लीजिए...। स्वयं परीक्षा में ऐसा लिख कर आया है इसलिए कोलंबो भारत की राजधानी बन जानी चाहिए ऐसा वह चाहता है। उसी प्रकार खुद को बुरे कार्यों को छोड़ना नहीं है इसलिए चाहते हैं कि कुदरत अपनी मान्यताओं को बदल कर अपराध को सत्कार्य के रूप में देखे...। ठीक है... मैंने कहा ना कि कुदरत अत्यंत उदार है। हम कहें ऐसे परिवर्तन करने के लिए तैयार है। लेकिन तब कुदरत हमसे भी पूछती है - तुम्हें कोई थप्पड़ लगाए तो उसे भी सत्कार्य मान कर पुरस्कार दूँ या नहीं? विश्वासघात करके व्यापार में तुम्हें लाख रुपये का नुकसान करवाए तो उसे दस लाख रुपये इनाम के रूप में दूँ या नहीं?'

'ना.... ना... उसे थोडे ही इनाम दिया जा सकता है? उसे तो सज़ा ही होनी चाहिए।' अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि अपराध ही माने जाने चाहिए ना? ऐसे दुष्कार्य के लिए सज़ा होनी ही चाहिए ना? उसकी सज़ा देनेवाली कर्मसत्ता भी होनी चाहिए ना? कुदरत के जो कानून हैं ये सब योग्य ही हैं ना? अर्थात् हम सज़ा नहीं चाहते हैं तो हम पापकर्मों का त्याग करें यही एकमात्र मार्ग हैं... सही है ना...?

आइये, अब हम हमारी मूल बात पर विचार करें। हमारी बात थी सहन करने की भी कोई सीमा होनी चाहिए... परेशानियाँ चलती ही रहें, चलती ही रहें, तो कब तब सहते रहें? पुत्री भी कहती है, 'सास का त्रास सहन करती रही। लेकिन दो दो साल बीत गए। अब और कहाँ तक सहूँ?' इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हम कैदी को ही याद करें।

'कैदी को कब तक सज़ा भोगनी चाहिए?'

'सज़ा की अवधि पूरी न हो तब तक....'

उस अपराधी को न्यायाधीश ने दस वर्ष की सज़ा सुनाई। कैदी बोल उठा, 'नामदार! दस वर्ष नहीं। इतनी लंबी सज़ा... नहीं नहीं नामदार... मैं इतनी लंबी सज़ा नहीं सहूंगा। कृपया दो वर्ष की सज़ा दीजिए...' क्या उसकी बात का स्वीकार हो सकता है?

सज़ा अपराधी की इच्छानुसार होती है या उसके अपराध के अनुसार? उसी प्रकार जीवन में कष्ट, त्रास हमारी इच्छानुसार आने चाहिए या हमारे कर्मों के अनुसार? जिसे दुःख चाहिए ही नहीं उसे पाप करने ही नहीं चाहिए। और अगर पाप हो ही जाते हैं, या ऐसे कर्म करने को कोई विवश है तो दंड भी

होनेवाला ही है और दंड अर्थात् सज़ा मर्यादित चाहते हैं तो पापकर्म पर भी मर्यादा रखनी चाहिए। अपराध के लिए कोई मर्यादा निश्चित नहीं करनी है, अमर्यादितरूप से पाप करते ही रहना है और सज़ा मर्यादित चाहिए... यह कहाँ का न्याय है?

आप लोग टीवी कितने वर्षों से देख रहे हैं? अब टीवी देखना बंद करना है? अनेक सीरियल देखे, अनेक क्रिकेट मेच देख लिए, देश-विदेशों के अनेक समाचार सुन लिए...।

अब इन सब को छोड़ना है...?

नहीं.... नहीं.... यह सब तो जीवन के अंतिम दिन नहीं, अंतिम क्षण तक देखना है। एक प्रभुभक्ति का गीत है...

भक्ति करता छूटे मारा प्राण... प्रभु हुं एवुं मांगु छुं...।

(प्रभु मैं यही मांगता हूँ कि तुम्हारी भक्ति करते करते मेरे प्राण निकलें...)

कई लोग मान लीजिए कि इस गीत में थोड़ा सा परिवर्तन करके गाना चाहते हैं।

टीवी जोता छूटे मारा प्राण... प्रभु हुं एवुं मांगुं छुं....

(प्रभु! मैं यही चाहता हूँ कि टीवी देखते देखते मेरे प्राण निकलें..।)

टीवी देखते देखते जीवन में निर्लज्जता आ गई है। ऐसे अश्लील दृश्य देखते समय आपकी सज्ज्नता को लज्जा का अंशमात्र भी छूता नहीं है। टीवी के परदे पर परस्त्रियों के जैसे दृश्य आप देखते हैं वैसे आपकी पत्नी, पुत्री या बहन के दृश्य अन्य लोग अगर घूर घूर के देखें तो आपको अच्छा लगेगा? नहीं ना? तो फिर समझ लीजिए कि टीवी अनेक अनर्थों का मूल है। टीवी देखना पाप है।

सर्व प्रथम तो पूर्णत: छोड़ने जैसी वस्तु है। बहुत देखी... बस अब नहीं... फिर भी इतनी दृढता नहीं है, पूर्ण रूप से छोड़ना कठिन लगता है तो थोड़ा सा नियंत्रण तो अपने आप पर रखना है या नहीं? मेरे पास दो उपाय हैं। बताऊँ?

आप ३०-३५-४० मिनिट के जो धारावाही देखते हैं उसकी अंतिम भाग - अंतिम दस मिनिट न देखें। एक दिवसीय मेच के आखरी पाँच ओवर देखना छोड़दें।

'उसीमें तो रस्साकसी, वास्तविक आनंद की बात होती है। उसीका तो आकर्षण होता है, वह कैसे छूट सकता है?'

'तो पहली ४५ ओवर न देखें।'

सभा - अगर यह न देखें तो फिर मज़ा ही कहाँ रहेगा?

वही अच्छा है ना? देखने का आकर्षण ही न रहे वही तो इच्छनीय है ना! ठीक है, चलिए दूसरा उपाय बताता हूँ। हर बार एक दो episodes - देखने के बाद एकाद छोड़ दीजिए... सारी अनुकूलताएँ होते हुए भी, नहीं देखना है तो बस नहीं ही देखना है...।

सभा : तो फिर उसकी Link टूट जाएगी।

तो उसमें कौनसी समस्या है? आप लोग तो वैसे भी एपिसोड़ छोड़ते ही रहते हैं। यह तो आपकी आदत ही है! चातुर्मास के दिनों में ग्रंथाधारित व्याख्यान होते हैं तब प्रतिदिन दिया गया व्याख्यान एक एक एपिसोड़ के समान ही तो होता है। फिर भी एकदम सामान्य बात का बहाना बना कर आप बीच बीच में व्याख्यान छोड़ते ही रहते हैं ना! देर से आते हैं, जल्दी चले जाते हैं... यह सब आपको स्वीकार्य है...!

हँसने की बात नहीं है। टीवी एक अपराध स्वरूप है। उसके उपयोग पर अगर मर्यादा निश्चित नहीं करनी है तो भविष्य में अमर्याद सज़ा सहन करने के लिए तैयार रहिए। तब आँसू बहाने का कोई अर्थ नहीं होगा। उसी प्रकार तीस चालीस वर्षों से अपना व्यवसाय आप कर रहे हैं। जब से व्यवसाय आरंभ किया है तब से अनीति - मिलावट - विश्वासघात करते रहे हैं। खूब संपत्ति एकत्रित कर दी। अब अनीति छोड़नी है?

- 'नहीं, जीवन के आखिरी दिन तक व्यवसाय करते रहेंगे...और तब तक अनीति भी करते रहेंगे...।' अगर ऐसा ही इरादा होगा तो कर्मसत्ता भी ऐसा ही इरादा रखेगी। परलोक में भारी गरीबी, दरिद्रता सती स्त्री की तरह आपकी परछांई बनकर पीछे पीछे घूमेगी। आज भी ऐसे अनेक निर्धन दिखाई देते हैं। वे बुद्धिमान होते हैं, परिश्रम भी बहुत करते हैं परंतु धनप्राप्ति होती ही नहीं है। हर बार पूर्वार्जित कोई न कोई अशुभ कर्म ऐसा धक्का देकर गिराता है। हाथ में आया हुआ कौर कोई अन्य व्यक्ति झपट कर ले जाता है, होठों तक आया प्याला छिन लिया जाता है... और ऐसा भी सदा सर्वदा होता रहे।

घोर निराशा, भारी हताशा, सख्त पराभव। थोड़े से रूपयों के लिए अनेकों के पैर पड़ना, अनेकों की चापलूसी करना, अपमान के कड़वे घूंट पीकर रह जाना - इतना सब कुछ करने के बाद भी थोड़े रूपये भी न मिलें। रोटी के टुकड़ों के लिए दर दर भटकना पड़े...।ये सब कब तक? जीवन का अंत आ जाय परंतु कठिनाईयों का अंत कहीं दिखाई न दे। जो अनीति छोड़ना नहीं चाहते हैं उन्हें ऐसे चिरकालीन दीन-हीन, पत्नी जैसे निकट के स्वजन द्वारा भी

अपमानित होनेवाले दुर्भागी पुरुष को हमेशा स्मरणपट पर रखना चाहिए। बीस करोड़ से पचीस करोड़ या पचास करोड़ तक पहुँच भी गए... तो आपकी धनराशि में वृद्धि होने के अतिरिक्त और कोई विशेष अंतर पड़नेवाला नहीं है। परंतु इस वृद्धि के लिए किये गए छल-प्रपंच, धोखा और अनीतिपूर्ण कार्य परलोक में भोगविलास या सुविधाजनक वस्तुओं को ही नहीं, बल्कि जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक वस्तुओं को भी अत्यंत दुर्लभ बनाकर मृत्युपर्यंत सताते रहेंगे। यह बात प्रत्येक मनुष्य को जीवनपर्यंत याद रखनी है। धन-संपत्ति की प्राप्ति के लिए किए गए काले करतूत, अप्रमाणिकता इत्यादि सब बातों का हिसाब अगर कुदरत नहीं रखती और सज़ा करती न होती तो दूनियाँ में न्याय जैसी कोई वस्तु रहती ही नहीं।

उसी प्रकार क्रोधी स्वभाव, - बात बात में गुस्सा किया, बारबार गुस्सा किया, बहुत गुस्सा किया। अब इस स्वभाव को बदलना है या नहीं? अगर यहाँ नहीं बदलेंगे तो कहाँ बदलेंगे? 'प्रकृति और प्राण साथ साथ जाएँ' अर्थात् प्रकृति चली नहीं जाती, जहाँ प्राण जाऐंगे वहाँ उसका पीछा करती हुई आएगी। उसे छोडना है तो हमें ही प्रयत्नपूर्वक उसे छोड़ना पड़ेगा। यहाँ पर ही छोड़ना होगा। 'नहीं छूटती है, क्या करें?' ऐसे निराशापूर्ण स्वर में न कुछ कहना है न तो पुरुषार्थ छोड़कर बैठ जाना है। क्रोध करने की बुरी आदत अगर छूटती न हो तो अपने आप दंड देने का नियम बना लीजिए। 'आज गुस्सा किया तो कल चोविहार उपवास करुंगा।' 'जिस पर गुस्सा किया उसके पैरों पर गिर कर क्षमा मांगूंगा।' 'एक बार गुस्सा किया तो दस हजार रुपये खुद को दंड करुंगा।' जो कुछ करना पड़े वह करुंगा। परंतु अब किसी भी तरह क्रोध से मुक्ति पानी है।' जो लोग क्रोध करने की आदत छोड़ते नहीं हैं उन्हें भविष्य में कुदरत भी कहेगी कि तेरी बुरी दशा करने की मेरी आदत मैं भी छोड़ नहीं सकती।

इस प्रकार हर व्यक्ति के साथ प्रत्येक प्रसंग में माया और दंभ। कहीं सरलता - निखालसता नहीं। पराये लोगों को तो ठीक, मित्रों को, स्वजनों को, पत्नी या मातापिता को या गुरुभगवंतों को भी नहीं छोड़ता। सर्वत्र कूटनीति। जीवन के साठ, सत्तर, पचहत्तर वर्ष इस प्रकार छलकपट और दंभ करते करते बिताये। अब इस अपराध से मुक्त होना है?

भाई को, सहकर्मचारी को, सास को, पुत्रवधू को, देवरानी या जेठानी को, किसी भी व्यक्ति को कदम कदम पर कटु शब्द सुनाना, ताने मारना, कोई न कोई परेशानी खड़ी करना...। बेचारी कमज़ोर है, भीरु है, किसी प्रकार का प्रतिकार करने को सक्षम नहीं है तो उसकी इस कमज़ोरी का लाभ उठाकर बार

बार उसे कटु शब्दों से आहत करते रहना, उसकी मानसिक पीड़ा को देखकर प्रसन्न होना, आंतरिक संतोष का अनुभव करना, उस पर अपना अधिकार जमाने का, डाँटने का, अपनी सत्ता चलाने का आनंद अनुभव करना ये सब अपराध हैं। ये सब अपराध अनेक वर्षों तक करते रहे..। अब उनका त्याग करना है या नहीं...?

निरंकुश रूप से अपराध करते रहना है। किसी प्रकार की मर्यादा निश्चित करनी नहीं है। अपराध करते हुए थकना नहीं है... फिर भी सज़ा मर्यादित चाहिए... सज़ा से थक जाना है... यह सब कैसे संभव है? सज़ा से डरना यह सज़ा से छूटने का उपाय नहीं है। अपराध से डरना यही सज़ा से छूटने का उपाय है।

गुणसेन - अग्निशर्मा का चरित्र संक्षेम में ऐसा है - अग्निशर्मा द्विजपुत्र है... पूरा शरीर अत्यंत कुरूप... त्रिकोण मस्तक, छोटी छाती... बड़ा पेट - पतले पैर... अंदर गई हुई आंखे... बहार नीकले हुए दांत... इत्यादि... राजकुमार गुणसेन के लिये वह एक खिलौना जैसा बन गया... अपने मित्रों के साथ अत्यंत क्रूरतापूर्ण उपहास तक पहुँच गया... गुणसेन के इस त्रास से त्रस्त अग्निशर्मा बिना किसीको कहे घर-नगर छोड़कर भाग गया... सेंकडों मील दूर जंगल स्थित आश्रम में पहुँचा... वहां अनेक तापस विविध तपश्चर्या की साधना कर रहे थे... कुलपति से आश्वस्त अग्निशर्मा ने भी तापस दीक्षा ली... साथ ही साथ कठोर प्रतिज्ञा ली कि आजीवन मासक्षमण के पारणे मासक्षमण करना, पारणे के दिन एक ही घर पर जाना... जो जैसा जितना मिले उससे पारणा करना... अगर कुछ भी न मिला तो भी दूसरे घर न जाना... और नया मासक्षमण चालु कर देना...

दीर्घआयुष्य के उस काल में लाखों मासक्षमण हो गए हैं। कर्म विज्ञान के बल पर गुणसेन के प्रति अब कोई रोष रीस या फरियाद नहीं है। राजा बना हुआ गुणसेन आश्रम में आया है। दोनों परस्पर पहचान नहीं सके हैं।

(अनुसंधान - पृ.८८)

५. समता: आत्महित का शोर्टकट

प्रश्न : दुन्यवी कोर्ट तो सब कुछ घोषित कर देती है कि अपराध क्या है, कौनसी धारा के अनुसार सज़ा तय की गई है, और सज़ा की अवधि क्या है। और इस कारण से सज़ा भोगने के लिए अपराधी अपने आप को मानसिक रूप से तैयार कर सकता है। साथ ही इतने समय के बाद मुक्ति मिलनेवाली है इस आशा से हिंमत बनी रहती है। कर्मसत्ता की कोर्ट तो ऐसा कुछ बताती ही नहीं है।

उत्तर : हाँ, यह बात सही है। परंतु जैसा पहले बताया है कि लड़के की गलती क्या है इस बात का कुछ पता न होने पर भी पिता मार रहा है यह देखकर कल्पना यही की जाती है कि लड़के का कुछ तो अपराध अवश्य होगा। उसी प्रकार सज़ा होने पर सामान्य रूप से अपराध की कल्पना ही करनी चाहिए। और ऐसी कल्पना करने से मन सज़ा के लिए तैयार हो सकता है। दूसरी बात यह है कि सज़ा की अवधि हमें बताई नहीं जाती है परंतु अवधि पूर्ण होने पर हमें दु:खों से मुक्ति मिल ही जाती है। जो जेलर प्रतिदिन सुबह होते ही सख्ती से कैदी के पास मज़दूरी करवाता है, उसी जेलर का व्यवहार सज़ा पूरी होते ही बदल जाता है। वह सन्मान पूर्वक कैदी को मुक्त कर देता है। कर्मसत्ता के न्यायालय का जेलर भी ऐसा ही करता है।

पवनंजय बारात लेकर अंजनासुंदरी से विवाह करने आया। विवाह के पूर्व, रात के समय भावि पत्नी का सौंदर्य कैसा है यह देखने की उत्सुकता ने मन में जन्म लिया। मित्र प्रहसित के साथ गुप्तवेश में रात्रि के समय अंजना के महल पर पहुंचा। अंजना का अनुपम सौंदर्य देखकर मुग्ध हो गया। अंजना की सखियाँ हँसी मज़ाक कर रही थीं। बात ऐसी थी कि अंजना के मातापिता के समक्ष दो राजकुमारों के प्रस्ताव आये थे। एक पवनंजय का और दूसरा विद्युत्प्रभ का। विद्युत्प्रभ चरमशरीरी है और चरमशरीरी होने के कारण महागुणवान हो यह स्वाभाविक है। परंतु आयुष्य कम होने के कारण अंजना का विवाह पवनंजय के साथ निश्चित हुआ। पवनंजय भी गुणवान एवं पराक्रमी ही है। सखियाँ अंजना को चिढ़ाने के हेतु से अंजना सुन सके उस प्रकार आपस में बातें कर रही हैं : 'दीर्घायुषी न हो तो क्या हुआ? चरमशरीरी तो चरमशरीरी है.... उसीके साथ जीवन जोड़ना चाहिए... इत्यादि। छद्मवेश में आये हुए पवनंजय ने यह सब

सुना। आर्य सन्नारी की मर्यादाओं से वह अनभिज्ञ नहीं है। ऐसे प्रसंग पर मौन ही आर्यनारी का उचित प्रतिभाव है ऐसा जाननेवाले पवनंजय के लिए अंजना के मौन पर बुरा मानने की या उसके विषय में गलत सोचने की आवश्यकता ही न थी। परंतु कर्मसत्ता अंजना को सज़ा करना चाहती थी। और इसी कारण से विचक्षण - स्नेहशील पवनंजय के मन में गलत विचार जगाया - 'अंजना मेरे पक्ष में कुछ बोलती नहीं है, सखियों को रोकती भी नहीं है, अवश्य विद्युत्प्रभ से स्नेह करती होगी।' परिणाम? प्रथम रात्रि से ही सज़ा आरंभ हो गई। पवनंजय ने अंजना का त्याग कर दिया। अंजना तो महासती थी। पति के विरह में शृंगार का त्याग कर दिया। व्यथा सहते सहते काया कृश बनती गई, वदन म्लान होता गया। परंतु स्वकर्म का ही दोष देखकर, पवनंजय के प्रति हृदय में जो स्नेह था उसे अविचल बना रखा, कभी भी पवनंजय के प्रति द्वेष या दुर्भाव को आने न दिया। बाईस बाईस वर्ष व्यतीत हो गए। परंतु पवनंजय के अतिरिक्त किसी पुरुष का मन में विचार भी नहीं किया है। एक दिन जब पवनंजय युद्ध के लिए प्रयाण कर रहा था तब प्रेमपूर्वक उसे शुभकामना अर्पित करने के लिए उसके चरणों में झुकी। इस समय भी एक प्रेमपूर्ण दृष्टि से उसे देखने के बदले, भारी तिरस्कारपूर्वक उसे अपमानित कर दिया। पति की तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से आहतहृदय के साथ वह भूमि पर गिर पड़ी।सखी वसंततिलका प्रयत्नपूर्वक उसे सांत्वना देती हुई उसके प्रासाद में ले आई।

पवनंजय युद्ध भूमि की ओर प्रयाण कर गया। संध्या के समय सरोवरतट पर उसने अपनी सेना को विश्राम देने हेतु छावनी डाली।अपनी विद्या के बल से वहाँ प्रासाद खड़ा कर दिया।

महल के गवाक्ष में खड़े खड़े सरोवर की शोभा देख रहे पवनंजय ने चक्रवाक के विरह में विलाप कर रही चक्रवाकी को देखा... दिन के बारह घंटे तो दानों साथ थे। रात्री के केवल बारह घंटे के वियोग की भी ऐसी वेदना ! और... अचानक पवनंजय के मन में अंजना का स्मरण हो आया। आज तक अंजना के प्रति जो पूर्वग्रह उसके मन में था, स्वत: विलीन हो गया। '२२-२२ साल का विरह! अंजना की क्या स्थिति हुई होगी!' प्रेम के अंकुर खिल उठे ...स्नेह की ऐसी धारा बह निकली कि अब एक क्षण का भी विलंब असह्य लगने लगा। तत्क्षण मित्र प्रहसित को साथ लेकर विद्याबल से अंजना के प्रासाद में पहुँच गया।

यहाँ जरा गहराई से सोचें कि चक्रवाकी की व्यथा और उसके विलाप को देखकर, आज तक के पूर्वग्रह और तिरस्कार के प्रभाव से स्वाभाविक रूप से

पवनंजय के मन में ऐसे विचार आने चाहिए थे कि 'चक्रवाकीका अपने साथी के प्रति यह कैसा गहन अनुराग कि केवल रात का विरह भी उसके लिए असह्य हो जाता है! और अंजना! छट् अन्य पुरुष के प्रति अनुराग रखनेवाली!' मातापिता तथा प्रहसित द्वारा अनेकश: अंजना की निर्दोषता समझाए जाने पर भी उसको दुष्ट ही माननेवाले पवनंजय का पूर्वग्रह आज स्वयं ही दूर हो जाए, उसकी विचार धारा ही बदल जाए यह सब किस प्रकार संभव हो सकता है? लेकिन संभव हुआ। इसीसे सूचित होता है कि सज़ा की अवधि पूर्ण हो चुकी तो जेलर का व्यवहार भी बदल गया। कैदी को बंदीगृह से मुक्ति मिल गई...।

वर्षों से शरीर में अपने पैर जमाकर बैठे हुए रोग को दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए, बड़े बड़े विशेषज्ञ तथा भारी भारी दवाईओं के पीछे लाखों रुपयों का खर्च किया फिर भी जिस रोग को दूर करने में जरा भी सफलता न मिली वही रोग किसी सामान्य उपाय से दूर हो गया ऐसा कई बार देखा जाता है। ऐसे प्रसंग में भी मूल हकीकत तो वही होती है कि कर्मसत्ता के न्यायालय के द्वारा दी गई सज़ा पूरी हो गई है इसलिए निमित्त चाहे कुछ भी हो, जीव को सज़ा से मुक्ति मिल जाती है।

दि.८-२-२००४ के गुजरात समाचार में विदेश का एक प्रसंग पढ़ा था -

एड् विन रोबिन्सन नामक एक ट्रक ड्राइवर को अकस्मात् हुआ। उपचार करवाये, फिर भी आँखों की रोशनी चली गई, श्रवणशक्ति भी चली गई। अनेक डॉक्टरों के विविध उपचार और अनेक प्रकार की दवाइयाँ लेने के बाद, कान पर मशीन लगाने से ज़ोर से - ऊंची आवाज़ में बोले गए शब्द मुश्किल से सुनाई देने लगें। परंतु आँखों के लिए तो डॉक्टरों ने स्पष्ट कह दिया कि अंदरूनी नसों में ऐसा प्रभाव पड़ा है कि अब जीवन पर्यंत अंधत्व ही रहेगा। उस समय एड् विन की उम्र ५३ वर्ष की थी। ड्राइविंग का काम बंद हो गया। हाथ में लकड़ी लेकर आसपास में घूमता रहता। अपने घर के आँगन में एक छोटा सा बगीचा बनाया और उसकी देखभाल करता। इस प्रकार नव वर्ष बीत गए। एक दिन वह जिस वृक्ष के पास खड़ा था उस वृक्ष पर बीजली गिरी। वृक्ष धराशायी हुआ। वृक्ष गिरने से एड् विन को भी धक्का लगा और वह बेहोश हो कर गिरा। बीस पचीस मिनटों के बाद जब उसे होश आया तब उसके आनंद की कोई सीमा न रही। वह सब कुछ स्पष्ट रूप से देख सकता था और सुन भी सकता था। उसके डॉक्टर तो आश्चर्यचकित हो गए। क्या बीजली गिरने से अंधत्व दूर हो सकता है?... कहिए... सज़ा पूरी हो गई... मुक्ति मिल गई...।

इसलिए... पीडा सहते सहते... दो वर्ष बीत गए, तीन वर्ष बीत गए... कब तक पीडा सहन करता रहूँ...? इस प्रकार का क्षोभ और संताप मन में जागने लगे, मन व्याकुल हो उठे तब जीव को समझाना चाहिए - हे जीव ! क्यों अधीर होता है? सज़ा की अवधि पूर्ण होते ही मुक्ति मिल जाएगी। कभी भारी अपराध के कारण सज़ा लंबी हो तो जीवनपर्यंत भी सजा भोगनी पड़ती है। ऐसी दशा में भी अकुलाना नहीं है, अधीर नहीं होना है।

प्रश्न : परंतु जीवन छोटा हो, सज़ा अधिक हो तो?

उत्तर - तो सज़ा परलोक में भी साथ आती है। अनेकानेक जन्मों में दुर्भाग्य दारिद्र्य, शरीर की विषमता चलती ही रहती है। ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों के पृष्ठों पर अंकित हैं। फिर भी शास्त्रवचनों के रहस्य एवं अनेक दृष्टांतों पर से अगर हम ऐसा अनुमान करें कि - जीव अगर कठोरतम यातनाओं से भरी सज़ा को - अन्य लोगों के अन्याय, अंतर को बींधनेवाले कटु वचन, हृदय को व्यथित करनेवाला व्यवहार, शारीरिक मानसिक पीड़ा इत्यादि सर्व प्रकार के दु:खों को स्वीकारपूर्वक, समतापूर्वक सह लेता है, अनेक वर्षों तक पीडा का अंत ही न आए फिर भी 'मेरे कर्म दुष्ट हैं' ऐसे विचार द्वारा मन की अधीरता को तथा उत्पीडक जीव के प्रति उठनेवाले द्वेष एवं वैरभाव को टालने में सफल होता है। यहाँ तक, कि उस उत्पीडक जीव के द्वारा मरणांत प्रहार किया जाय और मृत्यु भी आ जाय तो भी अपनी समता को अक्षुण्ण बनाये रखता है तो फिर सेंकडों-हज़ारों - लाखों वर्षों की ही नहीं, लाखों जन्मों तक सहने की शेष रही सज़ा को कर्मसत्ता क्षणार्ध में प्राय: रद्द कर देती है, उतना ही नहीं, उस जीव को भव्य पुरस्कृत करके अत्यंत सन्माननीय स्थान पर बिठा देती है - तो उस अनुमान में अनुचितता या कोई आपत्तिजनक बात दिखाई नहीं देती है।

झांझरियामुनि, खंधकसूरि के पांचसौ शिष्य, खंधकऋषि आदि अनेक दृष्टांतो में यह प्रतीत होता है कि अन्य जीवों के द्वारा दिए गए कष्ट समतापूर्वक सहन कर लेना यह आत्महित का Short Cut है। अनेक वर्षों तक उच्च कक्षा की साधना करने के बाद भी जो केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सका, वही केवलज्ञान - उपसर्गों को सहन करते समय समता धारण करने के प्रभाव से अत्यंत अल्प समय में प्रगट हो जाता है ऐसा हम देख सकते हैं।

अर्थात् असह्य त्रास, बार बार सहने पड़ते कष्ट और वह भी अनेक वर्षों तक सहन करने के बाद भी बढ़ते ही जाए, कहीं उसका अंत दृष्टिगोचर न होता हो, तो भी सहनशीलता का साथ न छोडें, मन को क्षुब्ध न होने दें, समता बनाये रखें। यही त्रास का अंत लाने का श्रेष्ठ उपाय है। इसके स्थान पर जो त्रास और

दु:खों की कथा सब को सुनाते रहते हैं और दु:ख देनेवाले को कोसते रहते हैं उनका दूसरे जन्मों में भी इसी प्रकार दु:ख पाकर रोना और पीड़ितहोना चालु ही रहता है।

अनेक प्रकार के स्पष्टीकरण, अलग अलग प्रकार से समझाने के प्रयत्न और अंत में कठोरकर्कशप्रतिकार... हर प्रकार से अनेक प्रयत्न कर लेने के बाद भी त्रास देनेवाला त्रास देना छोड़ता नहीं है, उपर से ज्यादा तकलीफें खडी करता है। मानसिक परिताप भी निरंतर देता रहता है तो फिर यह सब सह लेने के लिए स्वयं को तैयार कर देना ही चाहिए। त्रास अगर सहना ही है तो फिर समतापूर्वक ही क्यों न सह लें जिससे कभी भविष्य में तो उसका अंत आ ही जाय? यह पूर्णत: सही है कि ऐसे समय में समता धारण करना असंभव तो है ही नहीं। और कठिन है... अति कठिन है इसीलिए तो कुदरत भविष्य में पुरस्कार भी उतने ही भव्य देती है।

अति कठिन ऐसी समता को अविचल बनाए रखने के लिए हम ऐसा भी सोच सकते हैं : हे जीव! ऐसी परिस्थिति में समता धारण करके रहना यही तेरे लिए प्रमुख साधना है। मासक्षमण की घोर तपश्चर्या करनेवाला तपस्वी जो कर्मनिर्जरा एवं आत्महित कर सकता है उससे अधिक - अनेकगुना अधिक कर्मनिर्जरा और आत्महित तू इस समता के द्वारा कर सकता है। करोडों रूपयों का दान करनेवाला दाता जितना पुण्य उपार्जित कर सकता है उससे कहीं अधिक पुण्य हे जीव! तू इस समता के द्वारा अर्जित कर सकता है और अगर तू समता धारण नहीं करेगा तो भी ये कष्ट कोई कम होनेवाले नहीं है, यह तो तुझे शतप्रतिशत सहन करना ही है। तो फिर समता धारण करने का श्रेष्ठ मार्ग ही क्यों न अपनाया जाए?'

इसके अतिरिक्त ऐसे विचार भी आर्तध्यान के क्लेश से जीव को बचा सकते हैं कि -

हे जीव ! रोने से, हाय हाय करते रहने से, जो भी मिला उससे फरियाद करते रहने से, दु:ख देनेवाले का अहित सोचने से, प्रतिशोध लेने की इच्छा करते रहने से या मन में वैर की गांठ बांध लेने से दु:ख कम होनेवाला नहीं है, होता नहीं है, बल्कि भविष्य में इससे भी अधिक दीर्घकाल तक इससे भी अधिक दु:ख सहन करना पड़े ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी। इसका कारण यह है कि कर्मसत्ता के न्यायालय द्वारा निश्चित की गई सज़ा के विरुद्ध यह फरियाद है। गर्भित रूप से सज़ा को अयोग्य मानने का यह अभिप्राय है जिसे कर्मसत्ता कभी क्षमा नहीं करती। यह भी इसलिए कि अनंतानंत काल बीत गया है और बीतेगा। अपराधी

बिना किसी प्रकार की सज़ा भुगते छूट जाए और निरपराधी दंडित हो जाए ऐसी भूल कर्मसत्ता कभी भी नहीं करती। अपनी इस पूर्णत: क्षतिरहित व्यवस्था पर कर्मसत्ता अत्यंत गर्वोन्नत है और इसी कारण से अपनी कार्यप्रणाली पर कोई शंका व्यक्त करे तो कर्मसत्ता उसे सहन नहीं कर सकती। मानों वह क्रोधित हो उठती है और इसीलिए मानों, 'तू अपने अपराधों को जानता नहीं और इसलिए मेरे द्वारा दी गई सज़ा को गलत मान कर, यह मेरी गलती है, ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करता है?' ऐसा कहते हुए उस जीव को अधिक दण्डित करती है।

अत: 'हे आत्मन् ! रोने से कोई लाभ नहीं है। समता रखने का प्रयास कर। तेरी कसौटी हो रही है और होगी। परंतु सही समझ और सत्‌चिंतन को अखंड रखते हुए हिंमत धारण करेगा तो अवश्य इस कसौटी में से पार उतर जाएगा। और पार उतर जाएगा तो कुदरत का प्रियपात्र बन जाएगा।'

कई लोग फरियाद के स्वर में हमसे पूछते हैं, 'महाराज साहब! हमने जीवन में ऐसा कोई पाप नहीं किया है। किसी का बुरा तो किया ही नहीं है, बुरा कभी सोचा भी नहीं है। यथा संभव दूसरों का भला हो ऐसे ही काम करते हैं। फिर भी हमारे जीवन में इतने दु:ख हैं। थक गए हैं महाराज ! कुदरत का यह कैसा न्याय?'

क्या समझाए इन भाग्यशालियों को?

एक सरदारजी किसी रास्ते से गुज़र रहे थे। मार्ग में एक हॉटल देखा। वहाँ एक बोर्ड लगाया था - आइये ! हमारे हॉटल में मनपसंद भोजन लीजिए। बील आपसे नहीं लिया जायेगा। आपकी छठी पीढ़ी से हम वसुल करलेंगे।'

बोर्ड पढ़ कर सरदारजी तो खुश हो गए। सोचा - 'अब अन्यत्र क्यों जाऊँ? इसी हॉटल में खा लूँ।' फिर सोचा - 'छठी पीढ़ी किसने देखी है?कौन हिसाब रखेगा और कौन वसुल करेगा? हमें तो मुफ्त में ही खाना है और अगर मुफ्त में ही खाना है तो मैं अकेला ही क्यों? पत्नी और बच्चों को भी क्यों न बुला लिया जाये?' घर गया। पत्नी से कहा, 'आज खाना पकाना नहीं। तुम सब को हॉटल ले जाता हूँ और आज No control. जिसको जो खाना हो, जितना खाना हो खाओ। मैं मना करनेवाला नहीं हूँ क्योंकि पैसे देने ही नहीं है।' सब पहुँच गए और इच्छानुसार भर पेट भोजन किया। जब चलने लगे तो बील आया दो हज़ार रूपयों का। सरदारजी तो चौंक उठे। आघात और आश्चर्य के भाव लेकर मेनेज़र के पास गए। बोले, 'जनाब! आपने तो बोर्ड लगाया है कि पैसे छठी पीढ़ी से वसूल किये जायेंगे, फिर मुझे यह बील क्यों देते हो?' मेनेजर ने शांतिपूर्वक जवाब दिया, 'यह बील आप लोगों ने खाया उसका नहीं है। यह तो आपकी

पहले की छ ठ पीढ़ी खा गई थी उसका बील हैं।'

हाँ, हमें हमेशा याद रखना है कि इस जन्म में हम निर्धनता, पराभव, अपमान इत्यादि जो कुछ भुगत रहे हैं, इसमें से अधिकांश दु:ख जो हमने पूर्वजन्मों में किया है उसीके बील का भुगतान कर रहे हैं। इस भव में जो कुछ अच्छा या बुरा कर रहे हैं उसका शुभ या अशुभ फल तो प्राय : आनेवाले जन्मों में हमें मिलेगा। अत: अगर इस जन्म में पाप नहीं करते हैं, किसी का बुरा नहीं करते हैं तो आप धन्यवाद के पात्र हैं। अगले जन्म में सज़ा नहीं मिलेगी... परंतु पूर्वजन्म में जो अपराध किये है उसकी सज़ा तो यहाँ मिलेगी ना? भगवान महावीर ने भी उस चरमभव में कौन सा पाप किया था? किसका बुरा किया था? अरे! भयंकर उपसर्ग करनेवालों के लिए भी करुणा का ही चिंतन किया था। फिर भी कितने उपसर्ग सहने पड़े थे? किस लिए?

'क्योंकि प्रभु के कर्म भारी थे...'

'प्रभु के कर्म भारी थे और हम तो लघुकर्मी!

किसी भी प्रकार की दलील या प्रतिकार किये बिना अत्यंत शांतिपूर्वक सज़ा सहन करनेवाला और अन्य बातों में भी अत्यंत सौजन्यपूर्ण व्यवहार करनेवाला कैदी अगर जेलर से कहे कि यहाँ आने के बाद मैंने क्या अपराध किया है जिसकी आप मुझे इतनी सज़ा दे रहे हैं? तो जेलर क्या कहेगा? यही ना कि कैदखाने में आने के बाद तुम शांत रहते हो, धन्यवाद। परंतु यहाँ आने से पहले तुमने जो कुछ किया है उसकी सज़ा तुम्हें दी जा रही है।

यह बात हमारे जीवन में आनेवाले दु:खों के समान ही नहीं है? प्रभु महावीर के संबंध में जो समाधान प्रस्तुत करते हैं कि प्रभु ने जो कुछ सहा वह पूर्वजन्म के कर्मों की सज़ा थी वही हमारे दु:खों के संबंध में भी नहीं सोचना चाहिए? तो फिर फरियाद किस बात की? यह तो कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि सज़ा अपराध की ही होती है। वर्तमान के नहीं तो पूर्वकृत अपराधों की।

कई वर्षों पहले एक सत्य घटना किसी सामयिक में पढ़ी थी।जितना याद है उतना बता रहा हूँ...।

भारत में जब अंग्रेजों का शासन था तब की बात है। एक न्यायाधीश थे। चुस्त ब्राह्मण थे। सुबह जल्दी उठ कर मलविसर्जन हेतु एलीसब्रीज के पास साबरमती नदी के खुले तट पर जाते थे। अपने दैनिक क्रमानुसार उस दिन भी वे नदी तट पर गए थे। उसी समय पुल पर एक मनुष्य की हत्या हुई। रास्ते की लाईट के प्रकाश में उन्होंने हत्या करनेवाले आदमी को अच्छी तरह से देखा था।

योगानुयोग हत्या का यह केस उनके पास ही आया। परंतु पुलीस ने जिस आदमी को आरोपी के पिंजरे में खड़ा किया था वह कोई अन्य व्यक्ति ही था। उसे देखते ही न्यायाधीश ने सोचा - 'यह आदमी अवश्य छूट जायेगा क्यों कि वास्तव में हत्यारा कोई ओर है।'

परंतु आश्चर्य! पुलीस द्वारा प्रस्तुत किये गए प्रमाण, साक्षियों की जुबानी और उलट तपास के दौरान स्वयं आरोपी के मुख से निकले हुए शब्द... सब कुछ 'यह आरोपी ही हत्यारा है' ऐसा सिद्ध कर रहे थे। न्यायाधीश द्विधा में पड़ गए। अंत:करण कहता है यह मनुष्य हत्यारा नहीं है और कोर्ट की कार्यवाही से सिद्ध हुआ है कि वही हत्यारा है, सज़ापात्र है। लेकिन न्यायालयों में न्याय नहीं किया जाता, कानून देखा जाता है। कानूनी प्रक्रिया के अनुसार इस आरोपी को सज़ा देनी पड़े ऐसी स्थिति थी। किंतु निर्दोष को मृत्युदंड ...? अत: अपने अंत:करण को कुछ आश्वासन मिले, कुछ समाधान प्राप्त हो इस हेतु से आरोपी को मृत्युदंड के बदले आजीवन कारावास की सज़ा सुनाई गई।

आरोपी हत्यारा था ही नहीं इसलिए आजीवन कारावास भी उसे कैसे स्वीकार्य हो सकता है?उसने High court में अपील की। किंतु आश्चर्य...! वहाँ की कार्यवाही के फलस्वरूप उच्च न्यायालय के न्यायाधीश ने सोचा - इस अपराधी को आजीवन कारावास क्यों? इसे तो फाँसी ही दी जानी चाहिए। और इसके लिए देहांत दंड घोषित किया गया। अंत में उच्चतम न्यायालय Supreme Court ने भी उसकी इस सज़ा को मान्य रखा। फाँसी की तारीख भी निश्चित हो गई। इस ब्राह्मण न्यायाधीश का मन अत्यंत व्यथित और अस्थिर हो उठा। 'ईश्वर के घर देर है, अंधेर नहीं है' ऐसी उनकी दृढ श्रद्धा विचलित हो उठी।अंत में फाँसी के पूर्व उसने बंदीगृह में ही उस आरोपी की मुलाकात ली। बोले - देख भाई। कल तेरी फाँसी निश्चित है। तेरे केस पर अब पूर्णविराम का चिह्न लगा दिया गया है। और मैं भी तेरे पास इस समय एक न्यायाधीश के रूप में नहीं, एक जिज्ञासु व्यक्ति के रूप में आया हूँ। इसलिए हम जो भी बातें यहाँ करेंगे, उसका न्यायालय की दृष्टि से कोई भी मूल्य नहीं है ऐसा तू निश्चित समझना। अगर इस बात से तू सहमत है और इस कारण से सत्य हकीकत मुझे बताने के लिए तैयार है तो मैं तुझसे कुछ पूछ ना चाहता हूँ, क्यों कि तेरे केस के कारण मेरे मन में बड़ी उथल - पुथल हो रही है।

कैदी ने उत्तर दिया, ''मैं आप से सहमत हूँ। वैसे भी कल मुझे मरना ही है, इसलिए जीवन की अंतिम घडियोंमें मैं असत्य तो नहीं ही बोलूंगा इतना आप विश्वास रखें। अब जो कुछ पूछ ना है, पूछ सकते हैं।''

कैदी के इन शब्दों को सुनकर न्यायाधीश ने उनकी दृष्टि समक्ष वह हत्या हुई थी वह बात बताई। अंत में बोले - 'इस केस में तू हत्यारा नहीं है ऐसा मेरी आँखे कहती हैं। क्या यह सही हैं?'

'हाँ नामदार ! आपकी बात पूर्णतः सत्य है। इस केस मे मैं बिलकुल निर्दोष हूँ।'

न्यायाधीश : तो फिर कोर्ट की कार्यवाही में तू दोषित क्यों साबित हुआ? तेरे अपने मुँह से कुछ शब्द ऐसे क्यों निकले जिससे तू खूनी सिद्ध हुआ? सहानुभूतिवश मेरे द्वारा दी गई आजीवन कारावास की सज़ा फाँसी में कैसे परिवर्तित हो गई? इस विषय में तू कुछ कह सकता है?

अश्रुपूर्ण आँखों के साथ कैदी ने कहा, 'नामदार ! जीवन की अंतिम घडियोंमें असत्य नहीं बोलना है, पाप छुपाना नहीं है। कई वर्षों पूर्व एक हत्या करके भी मैं निर्दोष छूट गया था। मुझे लगता है कि उस अपराध का दंड मुझे आज मिल रहा है।' इन शब्दों से न्यायाधीश की ईश्वर के न्याय के प्रति श्रद्धा दृढ हुई।

वास्तविकता यह है कि वर्तमान समय में हम स्वयं को चाहे कितना ही निर्दोष मानते हों, परंतु सज़ा हो रही है तो हमारा अपराध होना ही चाहिए। वर्तमान समय का नहीं तो अतीत का। बिना अपराध कोई सज़ा होती ही नहीं और अगर सज़ा हमारे ही अपराध की है तो उसका अमल करनेवाला व्यक्ति जेलर ही होना चाहिए और अगर वह जेलर ही है तो उसे दुष्ट नहीं मानना चाहिए। उससे बदला लेने का विचार भी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - जिस प्रकार बिना अपराध हमें सज़ा नहीं मिल सकती उसी प्रकार दूसरों को भी उनके अपराध के बिना सज़ा नहीं मिल सकती। अर्थात् अगर हम उसे थप्पड मारे तो हम भी जेलर ही माने जायेंगे ना? और जेलर चाहे कैदी को हंटर से मारे या और किसी प्रकार की सज़ा करे तो उसे किसी प्रकार का दंड भुगतना नहीं पड़ता है, तो हमें कोई दंड भोगना नहीं होगा ना?

उत्तर - शादी के दूसरे ही दिन कन्या रूठ कर अपने मायके घर चली गई। यहां मातापिता ने अपने पुत्र से कारण पूछा, स्वयं पुत्र भी कुछ समझ न सकता था तो सब नववधू के पिता के घर गए। कन्या के मातापिता भी अपनी पुत्री से पूछ रहे थे, 'बीटिया, ऐसा क्या हो गया कि तू रूठ कर वापस आ गई?'

आँखों में आँसूओं के साथ कन्या ने उत्तर दिया - 'आपके दामाद मुझे कलंकित कहते हैं।' सब ने वरराजा की ओर देखा, उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ।

बोले - मैंने तुम्हें कब कलंकित कहा?' कन्या ने कहा, 'क्यों आपने यह नहीं कहा था कि तू चन्द्रमा जैसी है?'

सौम्यता और आह्लादकता बताने के लिए दी गई चन्द्रमा की उपमा क्या कलंकित अंश में लेनी चाहिए? बात यह है, कोई भी दृष्टांत जितने अंश में अभिप्रेत हो, उतने ही अंशों में समझना चाहिए। अगर सर्व अंश में लिया जाय तो अर्थ का अनर्थ हो जाय।

जेलर के दृष्टांतमें भी यही बात है। किसी की ओर से हमें कुछ सहना पड़ रहा हो तो हम समताभाव भूल न जायें इसलिए कष्ट देनेवाले को जेलर मानकर क्रोध - वैर आदि भावों से मुक्त रहना है। परंतु हम स्वयं दूसरों को कष्ट दें तो हम जेलर नहीं हैं। कर्मसत्ता तो हमें पूछेगी कि उसे दंड देने का आदेश मैंने कब दिया? अगर दिया है तो उसका लिखित प्रमाण मुझे दे। यह तो तुने स्वयं न्यायाधीश बनकर सज़ा दी है। लेकिन सज़ा देने का अधिकार केवल मेरे पास ही है। तूने उसमें हस्तक्षेप किया है, अतः तू भी दण्ड के पात्र है, तुजे दण्ड भुगतना ही होगा। अर्थात् हमें थप्पड मारनेवाला भी उसकी अपनी दृष्टि में तो न्यायाधीश ही बन रहा है और इस कार्य के लिए भविष्य में उसे भी सज़ा अवश्य मिलेगी। केवल हमें, हमारी समता के लिए उसे जेलर समझना है।

संक्षेप में - हमें कोइ परेशान करता है तो वह जेलर और हम किसीको परेशान करते हैं तो हम न्यायाधीश।

प्रश्न - यह विचित्र नहीं है? दूसरा कोई व्यक्ति प्रतिकूल व्यवहार करता है तो वह जेलर और हम प्रतिकूल व्यवहार करें तो हम न्यायाधीश...!

उत्तर - नहीं यह विचित्र नहीं है, बल्कि यही अनेकांतवाद है। उपदेश में प्राय : सर्वत्र ऐसा ही होता है। अपने लिए अलग नियम और दूसरों के लिए अलग। उदाहरण के लिए उपकार की बात देखें। हमने दूसरों पर उपकार किया हो तो उसे याद नही रखना चाहिए। उसे भूल जाना चाहिए। दूसरे लोगों ने हम पर उपकार किया हो तो उसे हमेशा याद रखना चाहिए, कभी भी भूलना नहीं चाहिए।

अपने सुकृत की प्रशंसा नहीं करनी है, अन्य व्यक्ति के सुकृत की प्रशंसा अवश्य करें। ऐसी तो अनेक बातें मिलेंगी। तो सार यह है कि दूसरे लोग हमारे साथ प्रतिकूल व्यवहार करें तो वे कर्मसत्ता के द्वारा नियुक्त कर्मचारी - जेलर, और हम दूसरों के साथ प्रतिकूल व्यवहार करें तो हम कर्मसत्ता के न्यायालय की कार्यवाही में हस्तक्षेप करनेवाले अनियुक्त न्यायाधीश...।

६. बिल्ली की शरण में चूहा

एक चूहे को एक खटमलने जोर से डंकमारा। चूहा अत्यंत क्रोधित हो गया। 'हरामखोर ! अभी तुझे सीधा करता हूँ।' फिर सोचा - एक से दो भले। किसकी सहायता ली जाय? और मन ही मन तय करके बिल्ली से सहायता मांगने चल पड़ा।परिणाम?

खटमलके डंककी पीड़ासे बचने के लिए चूहे का बिल्ली की सहाय लेने जाना कितना अनुचित, मूर्खतापूर्ण एवं कटु परिणाम लानेवाला लगता है? ज्ञानीजन कहते हैं - किसी दुन्यवी नुकसान की पीडाको मिटानेहेतु जीव क्रोध की शरण में जाये यह इससे भी कहीं अधिक अनुचित, मूर्खतापूर्ण एवं अधिक दारुण विपाकवाला है, क्योंकि बिल्ली के पास जाकर चूहा अपनी जान गँवायेगा, एक बार ही मरेगा, जब कि क्रोध की शरण में जानेवाले जीव को अपनी क्षमामय, गुणवान आत्मा को खोना है और दुर्गति के चक्कर में फँसकर बार बार मरना है।

हाँ, कोई भी दुन्यवी नुकसान केवल खटमलके एक डंकके बराबर ही है। चाहे वह नुकसान गाली के रूपमें हो, अपमान के रूपमें हो, मिथ्या आरोपों के रूपमें हो, किसी वस्तु के टूट न्या खो जाने के रूपमें हो, पाँच हज़ार रुपये का, पाँच लाख, पाँच करोड या पाँच अरब रूपयों का हो, किसी के द्वारा मारे गए थप्पड के रूपमें हो या किसी के डंडेकी मार के रूपमें हो। कभी किसीने हाथ या पैर की हड्डीतोड़ीहो या किसी कारणवश प्राण भी गँवाये हों...। ये सारे के सारे नुकसान खटमलके एक डंकके समान ही हैं और ऐसे नुकसान के लिए क्रोध करना चूहे का बिल्ली के आश्रय में जाने के समान ही है।

प्रश्न - पाँच - पच्चीस रूपयों का नुकसान हो तो क्रोध नहीं करना चाहिए, Let go करना चाहिए, यह तो ठीकहै, परंतु लाखों रूपयों का नुकसान भोगना पड़े या कोई हाथ - पैर तोड़ डालेतब भी क्रोध नहीं करना चाहिए, क्रोध करना मूर्खता है यह कैसे उचित माना जाए?

उत्तर - क्रोध करना - जीव का अनादि काल का अभ्यास है। नुकसान होने पर ही नहीं, नुकसान की कल्पनामात्र से जीव क्रोधितहो उठताहै। 'Let go' - 'जाने दो' करने को वह तैयार ही नहीं होता। और यह बात केवल अपने आप

तक ही सीमित है ऐसा भी नहीं है। आसपास की दुनियाँ में, प्राय: सर्वत्र यही देखते हैं। इसलिए 'क्रोध करना मूर्खता है, अकर्तव्य है' यह बात मानने के लिए मन तैयार ही न हो यह स्वाभाविक है। परंतु इतने मात्र से 'क्रोध करना मूर्खता है' इस सिद्धांत को ना तो हम नकार सकतेहैं न मिटा सकतेहैं।

एक प्रवासी - चप्पल पहनना भूल गया था। रास्ते में पत्थर पड़ा था उसकी जोर से ठोकरलगी। नाखून निकल आया और पीड़ा होने लगी। उसने सोचा - 'अच्छा हुआ चप्पल नहीं पहनी थी, अन्यथा चप्पल ही टूटजाती।' इसे आप मूर्खता ही कहेंगे या और कुछ ?

सभा - यह तो मूर्खता ही है क्यों कि पैर तो वह स्वयंके है, अपने शरीर का एक अंग है जब कि चप्पल तो अलग निर्जीव वस्तु है।

बस यही बात नुकसान से होनेवाले क्रोध के विषय में है। क्यों कि पैसे या प्राण अंततो गत्वा परायी वस्तु ही है। एक न एक दिन छूट नेवालीही है। जब कि क्षमा तो जीव स्वयं है। स्वयं का ही, स्वर्ग की परी के जैसा एक मनमोहक स्वरूप है। पराई वस्तु को बिगड नेसे बचाने हेतु स्वयं को, अपनी आत्मा को असुंदर बनाना, क्षमा परी की सुंदरता को खंडितबनाते हुए क्रोधरूपीराक्षस की बर्बरता को अपनाने... में बुद्धिमानी तो हो ही नहीं सकती।

इस वास्तविकता को एक विश्वप्रसिद्ध कहावत के द्वारा समझने का प्रयत्न करें। यह विश्वप्रसिद्ध कहावत अर्थात् ये तीन वाक्य ;

If wealth is lost, nothing is lost.
If health is lost, something is lost.
If character is lost, everything is lost.
इन वाक्यों का अर्थ भी उतना ही प्रसिद्ध है।

अगर धन खोया तो कुछ भी नहीं खोया है, अगर स्वास्थ्य खोया तो थोडा कुछ खोया है, अगर सद्गुण - सदाचारमय सच्चारित्र खोया है तो सब कुछ खोया है।

यह बात उचित है ऐसा तो सब स्वीकार करेंगे, परंतु ऐसा होने में कारण क्या है? जीवन में धन से कहीं अधिक मूल्यवान हैं आरोग्य और आरोग्य से कई गुना अधिक मूल्यवान है अच्छा चारित्र्य। परंतु महत्त्व इस क्रम में ही क्यों अधिक से अधिकतर माना गया है? इस प्रश्न का उत्तर मेरी दृष्टि से इस प्रकार है।

इस जगत में ऐसे अनेक श्रीमंत हैं जिन्होंने पर्याप्त आसमानी सुलतानी देखी होगी। शेयरबाज़ार के खिलाड़ियोंके लिए तो यह एक सामान्य बात है। करोडपतिके 'क' का र मिट जाने में देर नहीं लगती और पुन: अपने स्थान पर

आ जाने में भी देर नहीं लगती। अनेक स्क्रीप्ट के मूल्यों का ग्राफ ICU में सोए हुए हृदयरोग के मरीज़ के कार्डियोग्रामका ही अनुसरण करता है। इसका अर्थ स्पष्ट है। खोया हुआ धन इसी जन्म में वापिस प्राप्त किया जा सकता है, बारबार प्राप्त किया जा सकता है। जो खोया हुआ वापिस पाया जा सकता है, शीघ्र वापस पाया जा सकता है उसे अगर खोया भी तो क्या खोया? रात होती है और सारी दूनियाँ प्रकाश गँवा देती है, परंतु इसके लिए कोई रोने नहीं बैठता है क्योंकि कल पुन: प्रकाश आनेवाला है। इसीलिए कहा जाता है कि 'अगर धन खोया है तो कुछ भी नहीं खोया है।'

परंतु आरोग्य ऐसी वस्तु है जो एक बार गँवा बैठे तो जीवनभर वापिस पा नहीं सकते। शराब की लत में फंसा हुआ मनुष्य बाद में किसीकी सत्प्रेरणा पा कर या अनेक प्रकार की बरबादी का अनुभव करने के बाद शायद शराब का त्याग कर दे तो भी खून में आल्कोहोल के तत्त्व घुलमिल गए हैं और खून दूषित हो गया है उसे पुन: शुद्ध - दोषमुक्त बनाया नहीं जा सकता। गुटखा - मावामसाला आदि का व्यसनी आगे जाकर उसका त्याग कर दे तो भी मुँह का केन्सर ठीक होता नहीं है। जो भाग केन्सरग्रस्त हुआ है वहाँ शस्त्रक्रिया करवाये बिना कोई चारा नहीं। और फिर राक्षस जैसा बीभत्स चेहरा हो जाय कोई अचरिज़ नहीं...।

प्रश्न - अगर ऐसा ही है तो 'आरोग्य गँवाने से सब कुछ गँवाया' ऐसा ही कहना चाहिए ना?

उत्तर - नहीं, ऐसा हम इसलिए नहीं कहते हैं कि गँवाया हुआ आरोग्य भी परलोक में वापस प्राप्त हो ही जाता है। कहने का आशय यह है कि चाहे कितने ही लंबे समय से व्यक्ति के शरीर में अपनी जड़ जमाये बैठा हुआ रोग हो या परिवार का आजीवन सदस्य जैसा - अंत तक चलनेवाला - रोग हो... बी.पी. डायाबिटीस इत्यादि - वह भी परलोक में कोई साथ नहीं चलता। शरीर छूटने के साथ साथ शरीर की आरोग्यविषयक तकलीफों का अंत हो जाता है और जीव को आरोग्य पुन: प्राप्त हो जाता है। इसलिए ''आरोग्य खोया तो सब कुछ खोया' ऐसा नहीं कहा जाता है। केवल 'कुछ गँवाया है' ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार धन संपत्ति गँवाने में कुछ गँवाना नहीं है और आरोग्य गँवाने में कुछ तो गँवाना है। अर्थात् धन से आरोग्य अधिक महत्त्वपूर्ण है यह समझ में आता है और इसलिए गुजराती भाषा की कहावत - 'पहेलुं सुख ते जाते नर्या'. अर्थात् 'स्वस्थ शरीर जीवन का प्रथम सुख है' में धनसुख (धन का सुख) से तनसुख (तन का सुख) का क्रम प्रथम आता है। पेट भरने के लिए तो किसी भी

प्रकार का काम - मजदूरी भी करने के लिए मनुष्य विवश होता है परंतु (पेटि का - Bags) भरने के लिए - Bank Balance बढ़ाने के लिए ऐसे काम करें जिससे खाना-पीना-नींद सब कुछ गड़बड़ हो जाये उसे इच्छनीय कैसे माना जाय? मुंबई में नास्ता (Breakfast) लखनौ में Lunch और दिल्ही में Dinner... इस प्रकार उडनेवाले को आज का धनलोलुप जगत भले बड़ा उद्योगपति समझकर उसका सन्मान करे परंतु व्यास मुनि ने एक सुभाषित में नित्य सेवक के साथ साथ ऐसे नित्यप्रवासी को भी मूर्ख कहा है। उसी प्रकार शेयर बाज़ार में भी ऐसी अंधी दौड़ किसलिए कि एक ही धक्का इस प्रकार घायल कर दें कि फिर जीवनभर वह घाँव मिटे ही नहीं?

प्रश्न - संसार में संपत्ति की ही बोलबाला है। और साहस के बिना संपत्ति कहाँ?

उत्तर - ठीक है। फिर भी संपत्ति को आरोग्य से अधिक महत्त्व तो नहीं ही दिया जाना चाहिए। मान लीजिए कि व्यापार में पचीस लाख का नुकसान हो गया। इस नुकसान को व्यापार में ही रहने दो। मन पर उसका असर न होने दो। परंतु रुपयों को दिये गए अत्यधिक महत्त्व के कारण मन पर उसका असर न हो यह संभव ही नहीं। और यह असर निश्चित रुप से बी.पी. सुगर - डायाबिटीस जैसे, हाइपरटेन्शन जैसे रोगों का उपहार लेकर ही आती है।

व्यापार में धनप्राप्ति तो फिर से हो जाती है, परंतु अतिथि बन कर आये हुए ये रोग हटने का नाम नहीं लेते। और कभी कभी तो ऐसा आघात लग जाता है कि व्यक्ति शून्यमनस्क हो जाता है। सारा दिन विचारों में ही खोया हुआ रहे। बुद्धु की तरह इधर उधर देखता रहे। २७-२८ वर्ष का अत्यंत बुद्धिमान और परिश्रमी युवान सारा दिन घर में ही पड़ा रहे, कोई कामकाज नहीं, किसी प्रकार की जिम्मेदारी उठाये नहीं... पत्नी और परिवार के लिए बड़ी चिंता का कारण बन जाय।

मुझे एक किस्सा याद आता है...। महाराष्ट्र के एक शहर के जैन परिवार की एक युवती। अभ्यास में अत्यंत तेजस्वी एवं उतनी ही निष्ठावान। डॉक्टर बनने की प्रबल इच्छा और उसके लिए परिश्रम भी बराबर कर रही थी। परीक्षा हो गई। प्रश्नपत्र भी अच्छे ही गए। Merit list में नाम आयेगा और उसी योग्यता के आधार पर मेडिकल में प्रवेश मिल जायेगा ऐसे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ परिणाम की प्रतीक्षा कर रही थी। परंतु परिणाम आते ही घोर निराशा- हताशा ने घेर लिया। जो परिणाम घोषित हुआ उसकी तो स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। केवल Passing Marks! मेडिकल लाइन में प्रवेश प्राप्त करने का स्वप्न तो चूर

चूर हो गया। आघात इतना भयंकर लगा कि दमा का रोग लग गया। अस्थमा का पहला हमला इतना भारी था कि घर ले जाने के बदले सीधा अस्पताल ले जाना पड़ा।अस्पताल में डॉक्टर ने भी उपचार करने में ऐसी गलती कर दी कि अस्थमा उसका हमेशा का रोग बन गया। कभी भी ऐसे विचित्र रूप में दमा का हमला हो जाय, कुछ कहा नहीं जाता। शरीर की प्रकृति ही अत्यंत विषम बन गई। और विधि की विचित्रता कहें या संसार की करुण स्थिति...! पेपर्स फिर से खुलवाये Recheck - करवाया...।वास्तव में विशेष योग्यता की कक्षा के मार्क्स प्राप्त हुए थे। मार्कशीट में गड़बड़ हुई थी। मेडिकल में प्रवेश भी मिल गया और वह डॉक्टर भी बन गई। अनेक लोगों के रोग दूर करती है परंतु खुद का शरीर? अपनी प्रकृति का उसे खुद को ही कोई भरोसा नहीं। उम्र चालीस से भी अधिक हो गई है परंतु शादी करने की हिंमत कर नहीं सकती है... ।

एक अन्य दृष्टांत देखें।

एक अंग्रेजी साहित्यकार, जेरेमी टेलर उसका नाम था। सरस्वती और लक्ष्मी दोनों का कृपापात्र। परंतु संसार एक सी गति से कभी चला है? जिस बँक में जीवनभर की कमाई जमा की थी उस बेंक का दिवाला निकल गया। ये समाचार जानने पर उसका मित्र उसे आश्वासन देने आया। परंतु आश्चर्य! यह आदमी तो पूर्णत: शांत और प्रसन्न था। केवल आँखों में नहीं, अंतर में भी लक्ष्मी के चले जाने का अंशमात्र भी दु:ख न था।

मित्र ने पूछा, 'तुझे दु:ख नहीं हो रहा है?' उसने उत्तर दिया, 'देख मित्र! हवा-पानी और वाणी की सुविधा आज भी ऐसी ही है जो पहले थी। मेरे प्रत्येक अंग में स्फूर्ति और ताज़गी का झरना बह रहा है। मेरे हाथ - पैर पहले थे उतने ही मज़बूत हैं। आँखों की रोशनी अंशमात्र भी कम नहीं हुई है। ऐसी तो अनेक नैसर्गिक संपत्ति - समृद्धि से मेरा जीवन भरा हुआ है। इसके अलावा मेरा सच्चारित्र्यरूप किला अंशमात्र भी क्षतिग्रस्त नहीं हुआ है। फिर दु:ख किस बात का? जड़ें, तना, शाखा - प्रशाखा सब कुछ सुरक्षित है। कुछ पत्ते अगर झड़ गयें तो झड़ गयें...चिंता किस बात की?

जो जीवन - मृत्यु का प्रश्न बन जाय ऐसा तो केवल जीवन ही हो सकता है ना? जीवन के अतिरिक्त धन-पद आदि भौतिक वस्तुओं की तुलना में जीवन ही अमूल्य है यह तो निश्चित बात है, इसे समझाने की आवश्यकता होती है क्या? अत: धन के लिए अपने आरोग्य को दाँव पर लगाना या उसकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी नहीं है यह तो स्पष्ट बात है।

और, आरोग्य के विषय में जो सावधान है वह, मनुष्य के लिए आवश्यक धन तो सामान्यत: प्राप्त कर ही लेता है। जब कि आरोग्य की उपेक्षा करनेवाला लाखों - करोडों कमा भी ले, लेकिन बाद में लाखों करोडों रूपये खर्च करने पर भी आरोग्य प्राप्त नहीं कर सकता। इतना ही नहीं पूर्णत: पराधीन, विवशतापूर्ण जीवन बीताने का समय भी आ जाय तो आश्चर्य नहीं। संक्षेप में कहें तो आरोग्य ठीक हो तो धन पुन: प्राप्त किया जा सकता है परंतु धन की सहायता से आरोग्य पुन: प्राप्त करना असंभव है। इसीलिए कहा जाता है कि आरोग्य गँवाया तो कुछ अवश्य गँवाया है।

इसके अतिरिक्त, धन के द्वारा जो सुख - सुविधाएँ तथा भोगविलास के साधन प्राप्त किये जा सकते हैं उसीके कारण संसार की दृष्टि में धन का इतना महत्त्व है। आरोग्य की दुर्दशा करनेवाला इतनी संपत्ति होते हुए भी सब सुखों से वंचित रहता है। परिवार जन, स्वजन एवं मित्र उसकी धनसंपत्ति पर मौज़ करते हैं और उसके भाग्य में...?

बिस्तर पर करवट बदलनी हो तो भी पगारदार नौकर की पराधीनता - (प्रेममयी पत्नी की नहीं, वह तो सेठानी है! उसे तो उसकी संपत्ति के साथ ही और उस संपत्ति से प्राप्त होनेवाली मिजबानी के साथ ही संबंध है!)

भोजन में केवल चाय-दूध या मौसंबी का रस ही होता है और वह भी एक एक चम्मच नौकर मुँह में दे तब कुछ पेट में जाता है। अत: आरोग्य गँवाने के बाद, धन पास में हो तो भी न होने के समान ही है। इसलिए आरोग्य को खोनेवाले ने कुछ तो अवश्य खोया है।

परंतु जीव अगर अपना सच्चारित्र खो देता है तो वह इस जन्म में तो वापस प्राप्त किया जा सकता नहीं है, परलोक में भी उसे प्राप्त करना असंभव है। पुन: अगर जीव को प्रेरणा मिले, वह (दृढ़ संकल्प) करे, सच्चरित्र प्राप्त करने का प्रणिधान और तदनुरूप निरंतर भव्य पुरुषार्थ करे...।उसके बाद ही उसकी प्राप्ति संभव होती है। परंतु उसमें हजारों, लाखों या असंख्य जन्म बीत जाते हैं। किसी को तो असंख्य जन्म बीत जाय या अनंत काल बीत जाय तो भी आश्चर्य नहीं। इसीलिए कहा जाता है कि अगर चारित्र गँवाया तो सर्वस्व गँवाया। और सच्चारित्र गँवाया उसका अर्थ यही हुआ कि जीव दुश्चरित्र का शिकार बन गया। फिर जब तक वह उसकी चुंगाल से मुक्त नहीं हो पाता तब तक दुराचारमय और दुर्गुणयुक्त अनेक भव और उसके प्रभाव से ऐसे चीकने कर्मों का बंध कि जिसके परिणामस्वरूप दुर्गतियों की परंपरा और उसमें भी प्रत्येक जन्म में न आरोग्य का ठिकाना न संपत्ति का।

इसका जीता-जागता उदाहरण है अग्निशर्मा। पूर्वावस्था में गुणसेन द्वारा दिये गए भयंकर कष्ट और स्वयं तापस बनने के बाद भी उसके द्वारा चुकाये गए दो दो पारणे... अनवरत तृतीय मासक्षमण का प्रारंभ, फिर भी कितना समभाव! किसी भी व्यक्ति का हृदय उसके सामने झुक जाये ऐसी उदारता - क्षमा। परंतु जब तीसरा पारणा भी चुकाया गया तो क्षमा के भाव अदृश्य हो गए। वह क्रोध का शिकार बन गया। गुणसेन क्रमश: आगे बढता हुआ उच्च से उच्चतर देवलोक की समृद्धियों के, साधना के एवं गुणों के शिखरों पर चढ़ता गया। अंत में समरादित्य के भव में सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया और अग्निशर्मा! उसी गुणवान गुणसेन - प्रेमपूर्ण, निर्दंभी गुणसेन के पुत्र, पत्नी, भाई आदि के रूप में जन्म लेने पर भी अत्यंत कलुषित स्वभाव, भयंकर वैरानुबंध, निरंतर छलकपट और विश्वासघात आदि की वज़ह से अशांत जीवन और इन सब के प्रभाव के कारण अधिक से अधिक भयंकर नरक की यातनाएँ। समरादित्य के मोक्षगमन के बाद भी अनंतकाल पर्यंत संसार में यातनाओं से पूर्ण भ्रमण। इसके पश्चात क्षमा को आत्मसात् करने के बाद ही आत्मकल्याण...

हम चंड कौशिक को भी याद कर लें....।

प्रभु का शासन तो उसे प्राप्त नहीं हुआ था फिर भी कितना उदात्त, सुंदर व्यक्तित्व था उस गोभद्र ब्राह्मण का! आर्थिक परिस्थिति अत्यंत विकट होनेपर भी, विविध कलाओं में प्राप्त कौशल्य एवं पुरुषार्थी स्वभाव होते हुए भी धन उपार्जित करने के लिए कोई विशेष प्रयास करता ही नहीं था। कारण यही कि वह मन में अपूर्व संतोष धारण करके जी रहा था। धन के विषय में उसके मन में जितना संतोष था उतना ही संतोष उसे कामभोग के विषय में भी था। रात्रि का समय, वनप्रांत का एकांत, दिव्य विमान जैसा स्थान, पास के ही कक्ष में अपना साथी किसी युवती के साथ भोगविलास में डूबा हुआ है। उसी युवती की अप्सरातुल्य सौंदर्यवान छोटी बहन स्वयं आकर कहती है, 'आज की रात मुझे, आपके साथ आपकी भार्या बन कर रहना है' तो भी मन किसी प्रकार से चंचल या विचलित नहीं हुआ। अपना शील तो निष्कलंक अखंड रखा, भार्याभाव दिखाने के लिए आई हुई उस युवती को भी अपनी भगिनी बना लिया। अपने गुणों का कोई अहंकार नहीं, आत्मश्लाघा नहीं, अन्य व्यक्ति की दुष्प्रवृत्ति के विषय में जान लेने के बाद भी उसका तिरस्कार नहीं। महान परोपकारी। धन की अत्यंत आवश्यकता होने पर भी न अपनी कला को बेचने की तैयारी न याचना करने की दीनता। मांत्रिक - तांत्रिक संहारक शक्तियों के कारण अत्यंत

शक्तिमान दो मनुष्य जो परस्पर किये गए अपराध के कारण शत्रु को मिटा देने की तीव्र वैरभावना मन में धारण किये हुए थे उनके मन से उस वैरभाव को दूर कर परस्पर स्नेहभाव जगाने का धैर्य एवं सामर्थ्य... 'श्री महावीरचरियं' ग्रंथ में गोभद्र ब्राह्मण के प्रसंग जब पढते हैं तब उसके ऐसे सद्गुणों की प्रतीति अवश्य होती है।

ऐसा गुणवान मनुष्य जब संयम ग्रहण करे तो क्या कमी रह सकती है? सच्चारित्र के भव्य विकास की साधना सफल हुई। परंतु क्षुल्लक बाल मुनि के बार बार 'मेंढकी, महाराज मेंढकी' कहकर प्रायश्चित्त लेने की स्मृति दिलाने पर क्षमा खो बैठे, क्रोधाविष्ट हो उठे...।तो भावि जन्मों में भी केवल क्षमा ही नहीं, संपूर्ण सच्चारित्र भी गँवा बैठे।आखिर दृष्टि विषसर्प का जन्म मिला। जीवन का एक मात्र ध्येय, एक ही लक्ष्य... जिस पर दृष्टि पडे उसका अंत...! कहाँ गोभद्र और कहाँ चंड कौशिकसर्प? परंतु करुणासागर प्रभु महावीर पधारे। चंड कौशिक को उसके पूर्वभवों की स्मृति दिलाई। पुन: क्षमा की ओर उसे अभिमुख किया और उसके लिए प्रचंड पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी तो चंड कौशिक सही मार्ग पर आ गया। परंतु प्रभु महावीर अगर उसे न मिले होते तो उस जीव की भवपरंपरा क्या होती?

भगवान महावीर का जीव तीसरे भव में मरीचि के रूप में जन्मा था। प्रथम तीर्थंकर एवं अपने पितामह भगवान श्री ऋषभदेव के पास भारी वैराग्य के साथ संयमजीवन का स्वीकार किया। संयम के सुंदर पालन द्वारा आत्मा को महान बनाया। परंतु कुछ समय के बाद संयम के कष्ट सहना कठिन लगा। निर्मल साधनामय सच्चारित्र खोया और शिथिलता के पोषक त्रिदंडी रूप का स्वीकार किया। परिणाम? पुन: सच्चारित्र की प्राप्ति असंख्यकाल बाद सोलहवें भव में हुई।

ऐसे तो अनगिनत दृष्टांत हैं। सदाचार सद्गुणों को एक बार गँवा देने के बाद जन्म जन्मांतर बीत जाने के बाद भी उसकी पुन: प्राप्ति अत्यंत दुष्कर होती है। और सच्चारित्र को प्राप्त आत्मा पूर्वकृत किसी तीव्र पाप के उदय के कारण उस भव में शायद आरोग्य या धन संपत्ति प्राप्त न कर सके तो भी इसके बाद आनेवाले जन्मों में उत्तरोत्तर अधिक से अधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करता जाता है। गुणसेन उसका सुंदरतम उदाहरण है। उसकी भवपरंपरा में बीच बीच में उसे प्राप्त देवलोक में जन्म क्रमश: १,५, ९,१५,१८,२०,३० और तैंतीस सागरोपम आयुष्यवाले थे जो उसकी उत्तरोत्तर प्रगति के द्योतक हैं। और इस देवलोक के भवों के बीच बीच में प्राप्त मनुष्यजन्म में भी उसने बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों

समृद्धियों में विकास ही प्राप्त किया। अर्थात् अग्निशर्मा के जीव के दंभी व्यवहार, विश्वासघात तथा मृत्यु तक के कष्ट दिये जाने पर भी गुणसेन के जीव ने सरलता, मैत्रीभाव, क्षमा आदि उदात्त गुणों का तथा तदनुरूप सदाचार का त्याग नहीं किया, अपने सुंदर सच्चारित्र को अक्षुण्ण बनाये रखा - कभी भी खंडित होने न दिया। वह तो उत्तरोत्तर अधिक उत्तम कक्षा का सच्चारित्र एवं भव्य से भव्यतर समृद्धि प्राप्त करता गया। इस प्रकार धन इत्यादि की हानि उठाकर के भी सच्चारित्र का पालन करनेवाला अंत में अधिक धनसमृद्धि प्राप्त करता है यह निश्चित है।

इन बातों से यह तो निश्चित होता है कि धन से अधिक महत्त्वपूर्ण है आरोग्य और आरोग्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है सच्चारित्र। इसीलिए अन्य किसी भी वस्तु का भोग देना पड़े, किसी भी प्रकार की हानि उठानी पड़े तो उठा करके भी सच्चारित्र को अखंड - निष्कलंक बनाये रखना चाहिए।

राजसभा में बाहर से संगीतकार आये थे। राजा को संगीत अत्यंत अच्छा लगा। 'आप लोग यहीं पर निवास करें और सुअवसर पर अपना संगीत हमें सुनाते रहें। ' कलाकार वहीं रहने लगे। उनके निवास के लिए ऐसे भवन में व्यवस्था की गई जो अपने विशाल परिवार के साथ रहनेवाले एक श्रेष्ठी के भवन के बाजू में ही था। राजसभा में तो निश्चित समय के लिए जाते, बाकी सारा दिन निवास पर विविध रागों का रियाझ चलता रहता जिसकी आवाज़ सेठ के घर में भी सुनाई देती। इस संगीत में तो शृंगार रस युक्त गीत तथा मादक संगीत भी रहता। सेठ चौंक उठे। युवान पुत्रियाँ और युवान पुत्रवधूएँ घर में थीं। उनके कानों में ऐसा संगीत गूँजता रहे तो वासना और विकार के कैसे तूफान उनके मन में उठ सकते हैं? सब के शील - सदाचार और सद्विचार की रक्षा तो होनी ही चाहिए।

सेठ ने पता लगाया। मालुम हुआ कि यह व्यवस्था तो स्वयं राजा के द्वारा ही की गई है। इस कारण से इनको यहाँ से हटाना आसान बात नहीं है। 'कोई बात नहीं, जो मूल्य चुकाना पडेगा, चुकायेंगे। सदाचार - अच्छे संस्कार सब से अधिक मूल्यवान है।' सेठ ने अपने खजाने में से बहुमूल्य -दुर्लभ रत्न निकालकर थाल भरा। राजसभा में राजा को उपहार देने आये। राजा की आँखें रत्नों की चमक देखते ही प्रसन्न हो गई। राजा ने सेठ से पूछा, ' बोलिए सेठ जी! क्या इच्छा है?'

सेठ जी बोले, 'राजन् ! और तो कोई अपेक्षा नहीं है। केवल घर में एक मंदिर का निर्माण करना है। आपकी अनुमति और आशिष चाहिए।'

राजा ने उत्तर दिया, 'सेठ जी, यह तो धर्म का कार्य है। ऐसे कार्य में अनुमति की क्या आवश्यकता?'

'परंतु राजन्! भगवान का स्थान हो तो ढ़ोल- नगाडे के साथ भगवान की भक्ति का वातावरण भी ज़मेगा। यह कदाचित् किसी को अच्छा न लगे, विक्षेप सा लगे और आप के पास शिकायत की जाय। तब तो मंदिर के लिए समस्या खड़ी हो जाय। अतः आपकी अनुमति पहले से ही ले ली गई हो तो कोई चिंता न रहे।' अपनी चिंता व्यक्त करते हुए सेठ ने कहा।

राजा ने उन्हें निश्चिंत बनाते हुए कहा, 'सेठ जी निर्माण कीजिए मंदिर का और आनंद से भक्ति भी कीजिए। मैं प्रसन्नतापूर्वक अनुमति देता हूँ।'

मंदिर का निर्माण हो गया। प्रभु की प्रतिमा भी प्रतिष्ठित की गई। सेठ ने ढोलनगाडेवालों को बुलाया। कह दिया - 'बज़ाते रहो दिन भर जोर जोर से।' बस, अब तो पूछना ही क्या? संगीतकारों को रियाझ में भारी विक्षेप हुआ। अभ्यास करें तो कैसे करें? राजा के पास फरियाद की। 'सेठ जी को संमति दे दी गई है, अब उन्हें मना नहीं कर सकते। मंत्रीश्वर ! संगीतकारों का निवासस्थान बदल डालिए।' राजाज्ञा हुई और संगीतकार दूसरे स्थान पर चले गए, सेठ जी ने चैन की साँस ली। सदाचार पर आया हुआ भय टल गया..।

परंतु, वर्तमान काल अत्यंत विषम है। जीवन का क्रम पूर्ण रूप से विपरीत हो गया है ऐसा प्रतीत होता है। अति आधुनिक जीवन शैली अपनानी है, परंतु पुरुष की आय कम पड़ रही है। इस कारण से परिवार की स्त्रियाँ भी कमाने की दौड़ में अपने शीलसदाचार को भी दाँव पर लगा देती है। कामकाज के स्थान में उपरी अधिकारियों की ओर से कितनी परेशानियों का सामना उन्हें करना पड़ता है यह तो सब जानते हैं। उनके द्वारा की गई सभी हरकतों को चुपचाप सहना ही पड़ता है। कई किस्सों में युवावस्था के कारण यह रुचिकर भी लगने लगता है और पतन का आरंभ हो जाता है। फिसलते फिसलते अंतिम सोपान तक अगर पहुँच गए तो फिर जीवनभर एक अपराध का बोज़ दिल को दंश मारता ही रहेगा, कोसता ही रहेगा। विवाह के बाद पति पवित्रता के विषय में पूछे तो सत्य बताना भी संभव नहीं होता और जीवन के निकटतम साथी को, अत्यंत प्रिय आप्तजन को - पति को हर बार - असत्य ही कहना पड़ता है। भारी मायाचार करना पड़ता है। हृदय में निरंतर एक चुभन सी रहती है... और भविष्य में इन सब के दारुण परिणाम...। इससे कहीं अधिक अच्छा होता कि आधुनिकता के स्थान पर थोडी सादगी को अपनाया होता...! क्या फर्क पड़ता है? वस्तुत : सदाचारमय सद्गुणयुक्त जीवन ही Hi Fi जीवन है। सभी नैतिक

मूल्यों का ह्रास करके धन कमाना, उस धन के बल पर भव्य आवास, उच्च कक्षा की अंदरुनी सजावट ,आधुनिकतम कार, पाश्चात्य संस्कृति (या विकृति!) के अनुरूप वेशभूषा, हँसी मज़ाक, बातों में या स्पर्श आदि में न स्वपुरुष और परपुरुष की मर्यादा, नाचगान और पार्टियोंकी धामधूम - ये सब जहाँ हों वहाँ ही रुपये तो पानी की तरह भोगविलास के पीछे बहाया जाता हो... ऐसी जीवनशैली को हाई-फाई माननेवालों की आत्मा गट क्लास की हो ऐसा नहीं लगता? आवास और फर्नीचर की ही भव्यता देखनी? आत्मा की भव्यता का कोईमहत्त्व नहीं ? आत्मा की भव्यता तो कैसीहोती है?

अंग्रेजों के समय में वडालागाम डुंगरी के नाम से जाना जाता था। आझादी प्राप्त होने के बाद जागीरदारों का शासन खतम हुआ। गाँव के जागीरदार दो भाई थे। उन्होंने समय को परखा और दोनों अलग हो गए। पुरखों की संपत्तिरूप वडाला गाँव को दोनों ने राजीखुशी से बाँट लिया। माल - मिल्कियत, जमीन, मवेशी, सोनाचाँदी इत्यादि सब दो भागों में योग्य रूप से बाँट लिया। गाँव के बाहरी भाग में १०० बीघा जमीन थी। केवल उसे बाँटा नहीं गया क्यों कि बड़े भाई वीरा को निशानेबाजी की स्पर्धा में राज्य की ओर से यह इनाम में मिली थी। अत: वह उन्हीं के नाम पर रहने दी। 'बड़े भाई के कौशल्य के कारण उन्हें मिली है, इसलिए वह पुरखों की जमीन नहीं है।' ऐसा समझकर छोटेभाई रामभाई ने उसमें हिस्सा नहीं माँगा।

बीस वर्ष बीत गए। वीराभाई की मृत्यु हो गई। दोनों के पुत्र बड़े हो गए थे, उन्होंने कामकाजकी जिम्मेदारी सम्हाल ली थी। अब रामभाई के पुत्रों ने उस ज़मीन का भी हिस्सा माँगा। वीराभाई के पुत्रों ने समझाते हुए कहा - 'यह जमीन हमारे पिताजी को इनाम में मिली थी, चाचा ने भी इसमें से हिस्सा माँगा नहीं है।'

'हमारे पिताजी ने भले न माँगा, लेकिन हम माँगते हैं।' बस अब कोर्ट - कचहरी के चक्कर शुरु हो गए। मुदत मिलती रहती है। दोनों पक्षों के खर्च शुरु हो गये। लेकिन बड़े भाई के पुत्र समझदार थे। अपने चचेरे भाईयों से कहा : 'केस लडते रहने से समस्या का अंत नहीं होगा और दोनों पक्ष पायमाल हो जाएगे।'

'तो हमारा हिस्सा दे दो।'

'ठीकहै, अगर चाचाजी कहेंगे कि उस ज़मीन में से उन्हें हिस्सा मिलना चाहिए तो आधी ज़मीन आपकी।'

'वे तो कहतेही हैं।'

'कोर्टमें आकरहमारे सामने कहना चाहिए।'

'फिर मुकर तो नहीं जाओगे ना?'

'भगवान की सौगंध खाकर कहते हैं, नहीं मुकर जाएगे।'

रामभाई के पुत्रों के आनंद की सीमा न रही। 'भगवान की कृपा है जो चाचाजी के इन बेटोंकी अक्कल पर पत्थर पड़ गए हैं। मति मारी गई है। चलो हमें तो कम से कम पाँच लाख मिल ही जाएगे।'

आज से करीब पैंतीस साल पूर्व उस ज़मीन का मूल्य दस लाख था, आज तो शायद दस करोड़ से भी अधिक मूल्य हो सकता है। हृदय में आनंद का सागर छलकरहा था। गाँव में आकर लोगों को बताया। सब को बहुत आश्चर्य हुआ। वीराभाई के पुत्र गलती कर रहे हैं। आज के कलियुग में किसी पर ऐसा विश्वास रखना ठीकहै क्या? दो चार लोगों ने पूछा भी - 'क्या चाचा कहेंगे तो आधा हिस्सा दे देंगे?'

'हाँ, परंतु हमारे चाचा पर हमें पूर्ण विश्वास हैं।'

रामभाई के पुत्र अपनी माँ के पास आ कर बोले, 'माँ, आधा हिस्सा मिल गया।'

माँ : 'क्या, केस जीत गए?'

पुत्र : नहीं अब जीतेंगे। और सारी बात समझाई। फिर कहा - 'माँ! तुम भी पिताजी को समझाना कि हमारा हिस्सा माँगे।'

लेकिन माँ ने कहा 'मैं उनसे कुछ नहीं कह सकती क्यों कि मैंने आज तक कभी उनसे इस प्रकार की कोईबात नहीं कीहै।'

'ठीकहै! हम कहेंगे।' पुत्रों ने कहा और पिता के पास गए। सारी बात उनको समझाई। रामभाई मुस्कुराये। सोचा - भतीजे भी सयाने हैं! मुझे ही साक्षी बनाया...!

पुत्रों ने भार देकर रामभाई से कहा -

'पिताजी, आपको कोर्टमें आना होगा।'

'हम दोनों भाईयों में से कोई कभी कोर्ट गया नहीं है।' पिता ने उत्तर दिया। परंतु पुत्र ऐसे छोडनेवालेथोड़े ही थे? बोले -

'तो अब आना पड़ेगा।'

'ठीकहै, तुम दोनों का आग्रह है और उन्होंने भी मुझे ही साक्षी बनाया

है तो मुझे आना ही पड़ेगा?’ इन्होंने सोचकर उत्तर दिया। दोनों लड़के खुश हो गये। बार बार पिता को अपने पक्ष में साक्षी देने के लिए समझा रहे हैं और उनकी कसौटी भी कर लेते हैं। अपनी विजय के बारे में अब वे विश्वस्त हो गये। तारीख आ गई। सब कोर्ट पहुँच गये। दूसरे पक्ष के वकील ने रामभाई को साक्षी के रूप में पेश किया। रामभाई साक्षी के कठघरे में आकर खड़े हो गये। प्रसन्न मुख से धर्मग्रंथ को छुतेहुए सत्य बोलने की सौगंध ली। दोनों लड़के खुश हैं। अपने चचेरे भाइयों के सामने देख कर सोचते हैं - ‘तुम्हारे तो चाचा हैं परंतु हमारे तो पिताजी हैं। अब पाँच लाख रूपये हमारी जेब में आये ही समझो।’ वीराभाई के दोनों पुत्र चिंतित और आशंकित थे। कहीं चाचाजी के पुत्रमोह का पलड़ा भारी न हो जाय...।

फरियाद पक्ष के वकील ने पूछा - जब संपत्ति का बंटवारा किया गया तब इस ज़मीन का बंटवारा नहीं किया गया था?’

रामभाई - नहीं किया गया था।

वकील - इसमें आपको भी हिस्सा मिलना चाहिए यह बात सही है?

रामभाई सोच में पड़ गए। कुछ बोले नहीं।

वकील - जवाब दीजिये...।

रामभाई - सोचकर जवाब दूँना? यह कोई साधारण बात नहीं है। और हमारा ही खून आज लड़ रहा है।

वकील - आप सच बता दीजिए तो झगड़े का अंत हो जायेगा क्योंकि आप जो कहेंगे वह दोनों पक्षों को मान्य है।

रामभाई ने दो पल के लिए मौन धारण किया, फिर बोले - ‘इस ज़मीन के टुकड़े में हमारा कोई हिस्सा नहीं है। हिस्सा माँगने का हमें कोई अधिकार भी नहीं है।’ उनके दोनों पुत्रों पर तो मानों आसमान टूट पड़ा। क्रोध से जलती आँखों से पिता की ओर देखकर बोले - ‘पिताजी ! किनारे तक आया हुआ हमारा ज़हाज़ आपने डुबा दिया।’

‘ज़हाज़ तो तुम लोग डुबानेवाले थे बेटे! जो हमारी सात पीढ़ी की प्रतिष्ठा, नीतिमत्ता को केवल पाँच लाख रूपयों के खातिर बेचने के लिए तैयार हो गए थे। परंतु उसे इस तरह नीलाम मैं कैसे होने देता? हमारे पूरे गाँव को ही नहीं, आसपास के सभी गाँवों में हमारे खानदान पर जो विश्वास है, वह अखंड - अटूट बना रहना चाहिए और रहेगा।’

सच्चा Hi-Fi जीवन तो वास्तव में यह है। क्योंकि जीवन जीव का होता

है, आवास आदि का नहीं... और जीव की (आत्मा की) भव्यता यही है। यह सच्चारित्र है और वह भौतिक धन संपत्ति से लाखों गुना मूल्यवान है, महामूल्यवान - अमूल्य है यह निःशंक बात है।

इस प्रकार विश्व में सदाचार - सद्‌गुण से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है, प्राण भी नहीं। इसी कारण से अगर शील संकट में हो तो महासतियाँ अपने प्राणों का बलिदान देने में भी जरा भी हिचकतीं नहीं है। इस प्रकार शीलरक्षा हेतु प्राणों की आहूति देनेवालों की आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती, बल्कि अपार लाभ ही होता है, क्यों कि कुदरत प्राणों की आहूति देकर किये गए शीलपालन का बहुत ही ऊँचा मूल्यांकन करती है। जिस भौतिक समृद्धि के साथ जितने गुणों से समृद्ध प्राणों का त्याग वह व्यक्ति करता है उससे कहीं अधिक समृद्धि के साथ कहीं अधिक उच्च कक्षा के गुणों से युक्त प्राण कुदरत उस व्यक्ति को प्रदान करती है।

शील, सदाचार और सद्‌गुण की रक्षा हेतु संपत्ति, स्वजन, समय या शरीर जो कुछ भी त्याग करना पड़े, त्याग किया जाय तो वह सौदा कभी भी जीव के लिए नुकसानदायक नहीं, केवल लाभदायक ही सिद्ध होता है।

इन सब बातों से तय होता है कि संपत्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है आरोग्य और आरोग्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है सच्चारित्र। इसलिए हानि पाँच पच्चीस रूपयों की हो, पाँच - पच्चीस लाख की हो या पाँच पच्चीस करोड की हो, सब खटमल के डंक के बराबर ही है। और क्रोध के वश होना यह चूहे का बिल्ली की शरण में जाने जैसा ही है।

प्रश्न - इसका अर्थ तो यह हुआ कि पाँच - पच्चीस लाख का नुकसान हो जाय तो भी कुछ नहीं करना है, केवल हाथ ज़ोडकर बैठे रहना है। नुकसान होता है तो होने दें।

उत्तर - ज्ञानी लोग उचित लोकव्यवहार का कभी भी निषेध नहीं करते। लेनदेन के विषय में - ‘जो रकम आपको किसी के पास से लेनी है उसकी माँग भी न करो’ ऐसा तो वे कभी भी नहीं कहेंगे।

प्रश्न - परंतु वसूली करने में थोड़ी सख्ती अनिवार्य हो जाती है और सख्ती करो तो क्रोध भी आ ही जाता है।

उत्तर - अगर आप में इतना सत्त्व हो तो उगाही को छोड़ दीजिये। आपके पैसे आनेवाले हैं तो आयेंगे, न आयें तो भले पाँच - पच्चीस लाख का नुकसान हो जाय। मेरी क्षमा को बनाये रखने के लिए - क्षमाभाव की अखंडितता के लिए

संपत्ति की हानि उठानेके लिए मैं तैयार हूँ। गुस्सा करना मेरे लिए उचित नहीं है। संपत्ति की हानि सहकर भी क्षमा को अखंडित रखूंगा तो कुदरत मेरी कदर करेगी ही।

प्रश्न - परंतु अगर इतना सत्त्व न हो तो? और हमने भी अगर किसीसे उधार लिये हों और वह व्यक्ति पठाण की तरह पैसे माँग रहा हो और हमें ही नहीं, सारे परिवार को परेशान कर रहा हो तो?

उत्तर - इसी कारण से ज्ञानीजनों ने ऐसे अर्थव्यवहार का निषेध किया है। 'औरों के पैसों से व्यापार का उपक्रम करना और अगर कुछ गड़बड़ हो जाये, सारे पैसे डूबजायें तो दिवाला घोषित कर देना और लोगों के पैसे डूबोदेना' यह पश्चिम की विकृति है, हमारी संस्कृति नहीं। फिर भी ऐसी परिस्थिति में फँस ही गए हैं और इससे पैसे माँगते समय क्रोध आ जाता है तो भी क्रोध करने जैसा है ऐसा तो कभी न मानें। मन में उसका रंज होना चाहिए। अवकाश के समय में चिंतन करें -

'अंगारों की प्राप्ति हेतु मैं चंदन को जला रहा हूँ।'

'एक कील पाने के लिए पूरा महल ध्वस्त कर रहा हूँ।'

'हे जीव ! जब तक अंतराय दूर नहीं होंगे तब तक उधार दी गई रकम वापस आनेवाली ही नहीं है। तो फिर क्रोध करके अपने क्षमा के गुण को क्यों नष्ट कर रहा है?'

हे जीव ! सावधान रहना, कहीं क्रोध वैर का स्वरूप धारण न कर ले। देनदार की अन्य परेशानियाँ देखकर प्रसन्नता का अनुभव मत करना। उसको खत्म कर देने की धमकी दें ऐसे दुष्ट लोगों की सहायता लेने का विचार गलती से भी मत करना। उसका भी कल्याण हो ऐसी ही प्रभु से प्रार्थना करना।

सख्त शब्दों में पैसों का तकाज़ा करने के बाद भी पैसे न लौटायेजायें, एक बार गुस्सा किया, दूसरी बार किया, हर बार करते रहे। और गुस्सा ऐसी चीज़ है कि गुस्सा करने पर भी काम पूरा न हुआ तो उसकी मात्रा बढ़ती ही जाती है। फिर तो हर बार वही आसमान तक पहुँचनेवाला क्रोध... क्षमा तो ऐसी स्तब्ध हो जाती है... ऐसी डर जाती है कि दो - चार दिन, दो-चार मास या वर्ष तो क्या दो-चार भव तक आपके जीवन में झांकनेकी भी हिंमत नहीं करेगी। इतने समय में संपत्ति तो कई बार आई और कई बार गई। (आश्चर्य तो इस बात का है कि उलटा सीधा करके भी फँसे हुए रूपये वापस प्राप्त तो कर लिये। जैसे ही अपने हाथ में आये कि तुरंत प्रश्न उठता है - अब इन्हें कहाँ लगाऊँ? अरे भाई! कहीं

लगाना ही था तो वहाँ लगाये हुए ही तो थे। वहाँ से क्यों निकलवा लिये?) अर्थात् संपत्ति से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है क्षमा... और उसकी खातिर चाहे कितना भी नुकसान सहन करना पड़े तो भी उस नुकसान को क्रोध और वैर का निमित्त तो बनने ही मत दो।

एक और महत्त्वपूर्ण बात हमें समझ लेनी है कि नुकसान और लाभ के बाज़ार अलग अलग नहीं होते हैं। नफा बाज़ार में - दुकान में और नुकसान घर में होता है ऐसा कभी नहीं होता। जहाँ नफा होता है वहीं नुकसान की संभावना होती है। उसी प्रकार क्षमा और क्रोध के बाज़ार अलग अलग नहीं होते। जो अवसर क्रोध के होते हैं वे ही अवसर क्षमा के होते हैं। अन्य व्यक्ति के जैसे व्यवहार और स्वभाव पर हमें क्रोध आता है ऐसे ही व्यवहार और स्वभाव पर हमारे पूर्व के महर्षियों ने क्षमा रखी थी।

किसीने गाली दी, किसीने अपमान किया, असत्य आरोप लगाया, कटु शब्द सुनाये, हमारी निंदा की, कोई वस्तु तोड़ डाली, थप्पड लगाई, हमारे पैसों का घपला किया, ऐसी दूसरे लोगों द्वारा की गई हरकतों को हम क्रोध का ही निमित्त कहतें हैं। लेकिन कुदरत इनमें से एक भी हरकत को, एक भी कार्य को क्रोध का निमित्त मानने को तैयार नहीं है। वह तो प्रत्येक कार्य को क्षमा का ही निमित्त मानती है।

कोई एक ही व्यक्ति हमें बार बार कष्ट देता रहे और उसकी वज़ह से हमें भयंकर पीडा सहनी पड़े तब उसके असरकारक वर्णन के द्वारा हम दूसरों को यह प्रतीति करा सकते जिससे सारी दूनियाँ कहे - 'इतना त्रास हो तो गुस्सा तो आयेगा ही! यह तो स्वाभाविक है!' तो भी कर्मसत्ता इस क्रोध को स्वाभाविक मानकर स्वीकार नहीं करती। वह तो कहती है - जो कुछ सहन करना पड़ता है वह सब क्षमा का ही निमित्त है। तुम्हें तो क्षमा ही धारण करनी है। क्रोध करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।

अग्निशर्मा ने कितना सहन किया था! पहले हाँसी, फिर उसमें कठोरता और क्रूरता भी सम्मिलित हुए। और फिर तीन तीन बार उसका पारणा चूका दिया गया।

अब हमें अपने आपको अग्निशर्मा की जगह पर रख कर सोचना है। खूब सावधानी जिसके लिए रखना अत्यंत आवश्यक हो, 'किन्हीं संयोगों में गड़बड़ होने नहीं ही दूँगा' ऐसा मन ही मन दृढ़ निश्चय किया हो, ऐसी बात में, पहले जिसने भयंकर क्रूर मज़ाक करके हृदय को भारी दुःख पहुँचाया हो, वही व्यक्ति एक बार गड़बड़ करे और शिरोवेदना का कारण बताये। दूसरी बार गड़बड़

करे और अचानक आ पड़ी युद्ध की परिस्थिति को कारणरूप बताये। और फिर तीसरी बार भी गड़बड़ करे। ऐसे व्यक्ति के लिए हमारे मन में कैसे विचार आयेंगे? आगे-पीछे कभी नहीं और उसी दिन सिरदर्द शुरु हुआ? फिर एक महिने के बाद पारणे के दिन ही अचानक युद्ध आ पड़ा? ये सब केवल बहाने हैं। शिरोवेदना केवल ढोंग हैं और युद्ध भी एक stunt है। पारणा कराने का लाभ देने की विनंती, उसके लिए खूब - खूब आग्रह, पारणा चूक जाने का अतीव दुःख और पश्चात्ताप, आँसूओं की धारा - यह सब केवल दिखावा था। पुनः पुनः पारणे के लिए पधारने की विनंती का स्वीकार करवाके पारणा चूकाके परेशान करने की ही चाल थी' ऐसे ही विचार मन में उठेंगे ना? और ऐसे विचार उठें तो क्रोध ही उत्पन्न होगा ना? केवल हम ही ऐसा अनुभव करेंगे या सामान्यतः किसी भी मनुष्य को ऐसा ही अनुभव होगा? अग्निशर्मा को गुणसेन के कारण जो सहन करना पड़ा, तथा दो दो बार पारणा करने के संयोग न मिले और तप की अवधि बढ़ती ही गई तो भी उसने समता में ही वृद्धि की है। इतना सब कुछ हो जाने के पश्चात् तीसरी बार भी गुणसेन ने पारणा नही कराया। इतनी परेशानियाँ सहन करने के बाद किये गए क्रोध को भी कर्मसत्ता ने मान्य नहीं किया है। और उस क्रोध को अपराध मानकर उसके लिए कठोर दंड दिया ही है।

पालक ने अपने व्यक्तिगत वैर की तृप्ति हेतु राजा के मन में गलत बात दृढ़ करा दी और सज़ा करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। खंधकसूरि तथा उनके पाँच सौ शिष्यों को जीवित ही घानी में कुचलने हेतु यांत्रिक घानी तैयार की है। पूर्णतःनिर्दोष प्राणप्रिय चारसौ निन्यानबे शिष्यों को कुचल दिया। अब अंत में है सबसे छोटे अति सुकोमल बाल मुनि की बारी।

खंधकसूरि ने पालक से विनंती की, 'भाई इस बाल मुनि को कुचले जाते - पिले जाते देखना मेरे लिए असहनीय होगा। इसलिए पहले मुझे पिल डाल, मेरे ही जीवन का अंत कर दे।' इतनी सामान्य विनंती का भी पालक ने अस्वीकार कर दिया। बालमुनि को ही उनके सामने घानी में पिल डाला और बाद में खंधक मुनि को। पालक के ऐसे घोर अत्याचार को देखकर खंधकसूरि द्वारा किये गए क्रोध को भी कर्मसत्ता ने क्षमा नहीं किया। उसके लिए उन्हें क्रूर सज़ा की ही है।

कुरुट - उत्कुरुट दोनों बंधुमुनिवर थे। तीव्र तप और निर्मल संयम - साधना के कारण अनेक लब्धियाँ उन्हें प्राप्त हैं। क्रमशः कुणाला पधारे और वहीं चातुर्मास करना तय किया। योगानुयोग मेघराजा रुठ गये हैं। एक बूंद भी पानी बरसता नहीं है। आसमान में एक छोटी सी बदली के भी दर्शन नहीं हो रहे हैं।

अज्ञानी लोगो ने अनुचित गलत अनुमान करना आरंभ किया। इन साधुओं ने ही अपनी शक्ति से बरसात को बाँध रखा है...। बस, महात्माओं को सताना शुरु हो गया। कोई आक्रोशपूर्ण वचन सुनाता है, कोई अपशब्द बोलता है तो कुछ लोग उन्हें धक्का भी दे देते हैं। परंतु... महात्मा मौन और अपनी साधना में लीन। कभी भी प्रतिप्रहार तो क्या, किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं, शिकायत का शब्द भी नहीं। सब कुछ समतापूर्वक सहन करते रहे। समय बीतता गया और लोगों का त्रास भी प्रतिदिन बढ़ता गया। कोई आकर थूक देता है तो कोई थप्पड़ भी मार देता है। समय और भी आगे बढ़ता गया। अब तो लोग निरंकुश होते गये। मुनिवरों की समता को उनकी कायरता - विवशता मान कर डंडे से पीटते हैं। रक्त की धाराएँ बहतीं हैं। बस... अब, मुनिवरों का संयम टूट गया। मेघराजा को पंद्रह दिन, रात-दिन अनराधार बरसने का आह्वान किया। लब्धिधारी महात्माओं का वचन निष्फल नहीं जा सकता। संपूर्ण प्रदेश ताराज़ हो गया। पानी में बह गया। और सब के साथ साथ उच्च कक्षा के ये साधक महात्मा भी डूब कर नरक में पहुँच गये - सातवीं नरक में कर्मसत्ता ने उन्हें पहुँचा दिया। कर्मसत्ता ने उनके क्रोध को क्षमा न किया।

कर्मसत्ता अत्यंत स्पष्ट है। वह कहती है -

न्याय मुझे करना है, वह काम दुनियाँ का नहीं। सारी दुनियाँ जिसे क्षम्य माने वह क्रोध भी मेरे कानून में क्षम्य नहीं है। मेरे कानून में तो क्रोधमात्र अक्षम्य है।

प्रश्न - परंतु दूसरा मनुष्य हमें क्रोध करने को उकसाता हो तो?

उत्तर - दूसरा मनुष्य क्या करता है यह देखने का - सोचने का अधिकार हमें नहीं है। मेरा कहने का आशय मैं इस प्रसंग के वर्णन से स्पष्ट करुंगा।

वि.सं. २०३८ का हमारा चातुर्मास पालनपुर में था। स्व.पू.गुरुदेव विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज साहब सपरिवार पालनपुर के विहार में थे। बीच में एक मध्यम कक्षा का शहर आया। वहाँ एक वयोवृद्ध आचार्य अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ ठहरे हुए थे। अवस्था के कारण उनकी स्थिति गंभीर थी। स्व.पूज्य गुरुदेवश्री तो निर्यामणा कराने में अत्यंत निपुण भी थे और उन्हें उसमें रुचि भी थी। उन वयोवृद्ध और गंभीर शारीरिक दशावाले महात्मा की समाधि हेतु गुरुदेव ने आठ दस दिन वहीं स्थिरता करने का निश्चय किया। वहाँ प्रायः बीस वर्ष के आसपास की आयुवाले युवा साधु भी थे। गुरुदेव तो शासन को समर्पित आचार्य थे। अपने - पराये की भावना से कहीं ऊपर! 'ये साधु भले ही मेरे शिष्य नहीं हैं, परंतु हैं तो मेरे शासन के ही साधु। अगर कुछ अध्ययन करेंगे,

तो जैन शासन को ही उज्ज्वल बनायेंगे।' ऐसी उदात्त भावना से उन्हें अभ्यास कराने का निश्चय किया। शास्त्रों के रहस्यों को समझने के लिए तर्कशक्ति अपेक्षित होती है। और तर्कशक्ति को विकसित करने के लिए सामान्यतः हमारे यहाँ न्यायदर्शन के ग्रंथों का अध्ययन किया जाता है। परंतु न्यायदर्शन की प्राथमिक परिभाषा ही इतनी कठिनऔर बुद्धि को व्यायाम करानेवाली होती है कि विद्यार्थी डरकरअभ्यास करना ही छोड़ दें। कदाचित् वे छोड़ न दें तो भी आगे का अभ्यास और न्यायदर्शन के ग्रंथ दुर्गम तो अवश्य प्रतीत होते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री तो न्यायविशारद। न्यायग्रंथों का पुनः पुनः गहन परिशीलन करके उन्होंने एक ग्रंथ की रचना की - 'न्यायभूमिका'। वाराणसी के दिग्गज पंडित भी जिस ग्रंथ को देखकर आश्चर्यचकित हो गए कि सेंकड़ों वर्षो में भी हमारे पंडित जो सरलता ला न सके वह सरलता आपने यहाँ प्रस्तुत की है।

गुरुदेव ने स्वयं उन युवान महात्माओं से कहा 'मेरे आठ दस दिन के यहाँ निवास के दिनों में मैं आप लोगों को 'न्यायभूमिकाग्रंथ' समझा दूँ जिससे बाद के ग्रंथ सरल हो जाएंगे।' श्री संघ में अत्यंत लब्धप्रतिष्ठ और ऐसे बड़े महात्मा स्वयं कहें तो ना कैसे कह सकते हैं? अभ्यास आरंभ हुआ। लेकिन हमारे गुरुदेव के प्रति श्रद्धा और सन्मानयुक्त व्यवहार करने के बदले मानों उनके जन्मजात वैरी न हों उस प्रकार विचित्र लगनेवाला और द्वेषयुक्त व्यवहार ही वे करते रहते थे। इसे देखकर हमारे साधु मन ही मन व्यथा का अनुभव करते। एक दिन उन्हों ने फरियाद की, 'गुरुदेव! आप तो अप्रमत्त साधक हैं। चौबीस घंटों में छब्बीस घंटों का काम रखना जिससे एक मिनट भी व्यर्थ न जाय यह आपका सिद्धांत है। इतनी व्यस्तता में से भी आप किसी भी तरह समय निकाल कर महात्माओं को अभ्यास करा रहे हैं, परंतु उनको तो मानों इसका कोई मूल्य ही नहीं है। ऊपर से आपश्री की मानहानि हो ऐसा विचित्र व्यवहार ये लोग करते रहते हैं। तो उन्हें सिखाना ही बंद कर दीजिये ना! हमें उन्हें सिखाने की क्या गरज़ है?'

इन शब्दों को सुनकर गुरुदेव ने जो शब्द कहे उन्हें हमें अपने हृदय में अंकित कर लेना चाहिए। उन्होंने कहा, *'कर्मसत्ता जब लेखाजोखा करने बैठती है तब किसने हमारे साथ कैसा व्यवहार किया यह वह नहीं देखती है। वह तो यही देखती है कि हमने क्या किया है?'*

हाँ, यह बात अच्छीतरह से समझ लेने जैसी है। कर्मसत्ता जब हमारी फाईल खोल कर बैठती है तब अन्य किसीकी फाईल खोलती नहीं है। कर्मसत्ता मानों कहती है - औरों ने क्या किया है यह तो जब उसकी फाईल खोलूंगी तब देखूंगी। इस समय तो तेरी ही फाईल खोली है। उसमें अगर तेरा क्रोध दिखाई

देगा तो कठोरदंड दूँगी और अगर क्षमा के दर्शन होंगे तो भव्य पुरस्कार दूँगी।

गुणसेन ने बारबार अग्निशर्मा का क्रूर उपहास किया। तीन तीन बार पारणा चूकाया। परंतु कर्मसत्ता मानों अग्निशर्मा से कहती है : गुणसेन की फाईल तो किसी आलमारी में कहीं दबी हुई पड़ी होगी। इस समय तो मेरे हाथ में तेरी ही फाईल है। और उसमें भयंकर क्रोध, वैर की तीव्र गाँठ ,गुणसेन को मारने का - भवोभव मारने का नियाणा... यही सब देखने को मिलता है। यह सब घोर अपराधरूप है। इसके दंड स्वरूपतुझे अनंतकाल तक नरक आदि में भयंकर यातनाएँ सहनी ही है। गुणसेन ने क्या किया है यह तो जब उसकी फाइल खोलने का समय आयेगा तब ही पढूंगीऔर सोचूंगी।

सीधी सी बात है। जब नफा - नुकसान का हिसाब लगाना हो तब व्यापारी अपना ही वही - खाता- Account books जाँचता है। पड़ोसीदुकानदार ने कितना नफा या नुकसान किया है या उसकी वहियाँ क्या बतातीं हैं यह सब वह थोड़े ही सोचता है?

अस्पताल में भर्ती होनेवाला रोगी किस बात में दिलचस्पी रखता है? मेरी दाहिनी ओर सोए हुए रोगी की फाइल क्या कहती है या बाईं ओर सोए हुए रोगी की फाईल क्या कहती है उसमें या मेरी अपनी फाईल क्या बता रही है उसमें? उसकी फाइल हाथ में लेने के बाद भी उसकी समस्या से संबंधित विशेषज्ञ पासवाले रोगी की फाईल के विषय में उसे बताने लगे तो दर्दी झुंझला ही उठेगाना?

हमारी फाईल में भी जिन पृष्ठोंपर हमारे सत्कार्यों के विषय में लिखा गया हो वह पृष्ठ आते ही कर्मसत्ता दूसरे किसी प्राणी की फाइल उठाले और हमारे सुवर्णांकित पृष्ठोंकी अवज्ञा करे, उसकी ओर ध्यान न दे तो हमसे यह सहन होगा? इसीलिए कर्मसत्ता कह रही है - 'जब जिसकी फाईल हाथ में ली तब उसी फाईल को देखना है औरों की फाईल में तब देखना ही नहीं है।'

इसलिए हम अपना पक्ष उसके सामने रखते हुए अगर यह कहें - 'उसने मुझे कैसे अपशब्द कहे, मुझे किस प्रकार त्रास दिया, दिल बींध डालें ऐसे मर्मभेदी वचन कहे!' तो इन शब्दों का कोई भी अर्थ रहता नहीं है। कर्मसत्ता कहती है - तू औरों की फाइल मत खोल, तेरी अपनी ही फाईल का विचार कर कि तूने क्या किया है?

कैदी के दृष्टांत के परिप्रेक्ष्य में हम सोचे तो गाली देनेवाला, मारपीट करनेवाला या किसी प्रकार का त्रास देनेवाला... सब कर्मसत्ता की कोट के जेलर ही हैं।

जेलर न्यायाधीश की आज्ञानुसार अपराधी को विविध प्रकार की सज़ा देता है या न्यायालय का आदेश हो तो उसे फाँसी के तख्ते पर लटकाकर मृत्युदंड भी देता है। कैदी को किसी भी बात पर क्रोध करने का अधिकार प्राप्त होता है? जो भी सज़ा दी जाय, उसे तो चुपचाप सहन ही करना है। देहांतदंड अगर दिया जाय तो भी क्रोध करने की अनुमति कैदी को कोर्ट देती नहीं है।

कर्मसत्ता की कोर्ट की भी यही प्रणाली है। सज़ा छोटी हो या बड़ी... सज़ा सज़ा ही है। तेरे ही अपराध की सज़ा है। शांतिपूर्वक उसे स्वीकार कर लेना ही है, यही तेरा फर्ज़ है। इसलिए नुकसान पाँच रुपये का हो, पाँच लाख का हो या पाँच अरब का, क्रोध करने का तुझे कोई अधिकार नहीं मिल जाता। थप्पड खानी पड़े, हाथपैर तोड़ दिये जायें या प्राण भी लिये जायें। तेरे क्रोध को कर्मसत्ता बरदाश्त करेगी ही नहीं।

इसलिये तय यह करना है कि अगर कर्मसत्ता के न्यायालय के पास से अधिक सज़ा नहीं चाहिए और भव्य पुरस्कार प्राप्त करने की अभिलाषा अगर है तो दु:ख सहन करने के जो भी प्रसंग उपस्थित हों, हर बार मुझे तो क्षमाभाव ही धारण करना है, क्रोध तो कभी नहीं करना है। अर्थात् दु:ख सहने के सब प्रसंग क्षमा के ही अवसर हैं, क्रोध के नहीं।

दिन में दस निमित्त प्राप्त हुए तो प्रत्येक बार अंदर से क्रोध ही जागृत होता है, क्षमा का संगीत हृदय में कभी भी गुंजता नहीं है।

क्रोध पूर्णत: सहज - स्वाभाविक प्रतीत होता है। क्षमाभाव जागृत करने के लिए तो कठिन संघर्ष करना पड़ता है। 'अब से क्रोध नहीं करना है' ऐसा दृढ़ संकल्प करने पर भी कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर क्रोध आ ही जाता है। संकल्प तो हवा में उड़ जाता है।

क्रोध के कारण होनेवाले नुकसान का अनुभव अनेक बार होने पर भी तथा उपदेश में भी 'क्रोध हानिकारक है, अकर्तव्य है' ऐसी बात बारबार समझाई जाने पर भी दिल क्रोध की तरफदारी किये बिना नहीं रह सकता। और 'क्रोध किये बिना कोई कार्य हो ही नहीं सकता,' 'क्रोध न करें तो लोग कायर समझते हैं', 'क्रोध न करें तो सब सिर पर सवार हो जाते हैं...' इत्यादि राग लोग आलापते ही रहते हैं।

ये और ऐसी अनेक बातें ध्वनित करती हैं अनंत भूतकाल में अनंत प्रसंग उपस्थित हुए। जीव ने स्वरुचि से क्रोध ही किया है, क्षमाभाव कभी भी धारण नहीं किया है जिसके परिणामस्वरूप मानों जीव का अस्तित्व क्रोधमय बन गया है। इसी कारण से वर्तमान समय में भी ऐसे अवसरों पर अंदर से क्रोध

की ही प्रेरणा मिलती है, क्षमा की प्रेरणा कभी नहीं मिलती। अब, क्रोध के दारुण विपाक समझ में आने पर यदि जीव के अस्तित्व को क्षमामय बनाने की इच्छा है तो क्रोध के नुकसान और क्षमा के लाभ को समझानेवाले उपदेशवचनों का पारायण पुन: पुन: करना आवश्यक है और साथ साथ ऐसे प्रसंगों का चिंतन - मनन भी उतना ही आवश्यक है।

एक संन्यासी था। क्रोध के विषय में मानो दुर्वासा का ही अवतार! निमित्त मिलते ही बोइलर में विस्फोट हो जाता। अपने ही क्रोध से त्रस्त हो उठा और हिमालय के निर्जन प्रदेश में चला गया। तीस वर्ष वहीं निवास किया। इस दीर्घकाल की अवधि में कभी भी क्रोध नहीं किया है अत: अब क्रोध को वश में कर लिया है ऐसा सोचकर वह वापस लोगों के बीच आ गया। योगानुयोग से कुंभ के मेले के दिन थे। सर्वत्र भारी जनसमूह... किसी का पैर उसके पैर पर पडा और लावारस उगलना शुरु हो गया... 'अंधा है क्या? देखकर नहीं चल सकता क्या?' तीस तीस वर्षो तक क्रोध नहीं किया था फिर भी क्षमाभाव की प्राप्ति क्यों न हुई। अगर हम सोचेंगे तो समझ में आयेगा कि जिससे क्षमाभाव अभ्यस्त हो सके ऐसा कोई अवसर ही उस एकांतवास में प्राप्त हुआ नहीं था।

एकदम छोटी उम्र में ही जिन बालकों को चप्पल-बूट पहने बिना कहीं भेजा नहीं जाता है उन बालकों के पैर अत्यंत सुकोमल बन जाते हैं। भटकना, किसी वस्तु से टकराना, गिरना, कर्कश ज़मीन पर बैठना ये सब बालक के पैरों को - (बालक के शरीर को भी) मज़बूत - सुदृढ़ बनानेवाले हैं।

विद्यार्थी अवस्था में ही केल्क्युलेटर का आश्रित बना हुआ दिमाग १२x१३ जैसे सरल प्रश्न का जवाब देने समय द्विधा का अनुभव करेगा - परेशान होगा जब कि पुराने ज़माने का व्यक्ति क्षणभर में इस प्रश्न का उत्तर दे देगा। अत: स्पष्ट है कि समस्यात्मक प्रश्न, कठिन प्रश्न दिमाग को प्रशिक्षित करने के लिए ही होते हैं।

शरीर तथा दिमाग (मन) से संबंधित इसी नियम को आत्मा के संबंध में भी लागु किया जा सकता है ऐसा बताने के लिए मानों कुदरत जीव से कह रही है - अरे! तू क्षमा करना सीख सके इसी हेतु से मैं किसी को तुझे गाली देने के लिए भेजती हूँ। तेरा अपमान करने के लिए किसी को प्रेरणा देती हूँ। तुझे थप्पड लगाने की आज्ञा देती हूँ। तू ही सोच कि अगर कोई गाली देनेवाला ही न हो तो क्षमा का प्रशिक्षण तुझे मिलेगा कैसे? इसलिए समझ ले कि गाली, अपमान, थप्पड ये सब क्षमा के पाठ सीखने के साधन हैं, क्रोध के नहीं...

इसके अतिरिक्त दिमाग को तैयार करने के लिए आरंभ में २+२ = ४

ऐसे सरल हिसाब और फिर थोड़े कठिनप्रश्न और उत्तरोत्तर कठिनसे कठिनतर प्रश्न हल करनेके लिए दिये जाते हैं।

इस प्रकार थप्पड़ लगने पर, मारनेवाले को क्षमा करने का पाठ सीख लेनेवाली आत्मा को अगला पाठ सिखाने के लिए हाथ-पैर तोड नेवाले प्रहार उपस्थित किये जाते है। ऐसे अवसर पर भी जो आत्मा क्षमा का साथ नहीं छोड़ तीउसे उसी क्षमा के पथ पर आगे बढ़ानेके हेतु से ही प्राणघातक परिस्थिति निर्मित की जाती है.... ऐसा समझना चाहिए। ऐसा ही क्रमश: पाँच हजार, पाँच लाख या पाँच करोड रूपये के नुकसान के विषय में भी समझना आवश्यक है। मानों कुदरत कह रही है - करोडोंरूपयों का नुकसान या प्राणघातक घाव... ये सब क्षमा के निमित्त हैं, क्रोध के नहीं। और इसीलिए ऐसे प्रसंग पर जो जीव क्रोध करता है उसे कुदरत अवश्य सज़ा करती है और जो जीव क्षमाभाव धारण करता है उसे नि:शंक रूप से कुदरत पुरस्कृत करती है। निर्णय हमें करना है कि कुदरत के पास से हमें दण्ड चाहिए या पुरस्कार?

क्षमाभाव को मन में स्थिर करने के विषय में एक यह तथ्य भी समझने योग्य है कि अन्यद्वारा प्रदत्त गाली, अपमान या आर्थिक हानि हमारे Blood Pressure या Sugar आदि को असर नहीं करतीं, परंतु ऐसे प्रसंग पर किया गया क्रोध ही ऐसे Hypertension के रोगों को आमंत्रित करता है।

उसी प्रकार अन्य जीवों द्वारा दिया गया त्रास हमें नरकादि दुर्गति में ले जाने के लिए समर्थ नहीं है, परंतु उस समय हमारे द्वारा किया गया क्रोध हमें अवश्य नरकगामी बनाता है। पालक ने पाँच सौ शिष्यों को घानी में पिल डाला परंतु एक भी शिष्य को दुर्गति में भेज न सका क्योंकि किसी ने क्रोध किया नहीं। प्रत्येक शिष्य ने अपूर्व समता धारण की थी। अंत में खंधक को पिला। वे दुर्गति के चक्र में फँस गए क्योंकि उन्होंने क्रोध किया।

प्रसन्नचंद्र राजर्षि के विषय में महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने उत्तर दिया - 'वे सातवी नरक में जायेंगे।' राजर्षि को सातवीं नरक में कौन भेज रहा है? मंत्रिगण द्वारा किया गया विश्वासघात या मंत्रियों को दुष्ट मानने के कारण उत्पन्न क्रोध के कारण खेला गया तुमुल मानसिक युद्ध? दूसरी बार प्रभु ने उत्तर दिया -

'सर्वार्थसिद्ध विमान... देव दुंदुभि बज उठी और महर्षि ने प्राप्त किया केवलज्ञान...।'

अब सर्वार्थसिद्ध विमान या केवलज्ञान की प्राप्ति यह विपरीतता, यह बदलाव के मूल में कारण क्या? क्या मंत्री अच्छे बन गए? राजा के प्रति

निष्ठावान बन गए? या राजर्षि मंत्रियों को दुष्ट मानना छोडकर समताभाव में आगे बढ़े वह? तो इतना स्पष्ट है कि अन्य का अत्यंत प्रतिकूल व्यवहार हमारा इतना नुकसान नहीं कर सकता जितना नुकसान हमारा क्रोध करता है। सरल बात है -गाली सुननी पड़े यह बड़ा नुकसान या नरकगमन बड़ा नुकसान? उसी प्रकार थप्पड़ सहन करना, हाथ - पैर टूटना या दो - पाँच करोड़ की आर्थिक हानि सहन करना - ये बड़े नुकसान या नरकगमन बड़ा नुकसान? अरे ! प्राण छूटने से भी बड़ा नुकसान है नरकगमन। प्राण छूटने के समय भी यदि समता बनी रही तो अत्यधिक समृद्धि युक्त जाज्वल्यमान प्राण की प्राप्ति निश्चित है, परंतु समता खोकर अगर नरक में पहुँच गए तो प्रतिक्षण मृत्यु की अकथ्य वेदना और फिर भी मृत्यु न होने के कारण अगणित बार मृत्यु की पीडा।अत: यही बात निश्चित होती है कि किसी भी कक्षा का प्रतिकूल व्यवहार केवल खटमल के डंक के बराबर है और उस समय किया गया क्रोध चूहे का बिल्ली की सहायता माँगने जैसा है।...

(पृष्ठ ७४ से चालु)

लेकिन अग्निशर्मा की भीष्म तपश्चर्या से आकृष्ट गुणसेन के पूछने पर अग्निशर्मा ने गुणसेन का परमउपकारी कल्याणमित्र के रूप में कथन किया तो गुणसेन अत्यंत आवर्जित हुआ... दोनों को परस्पर परिचय मिल गया। गुणसेन ने अत्यंत भक्तिपूर्ण हृदय से पारणे के लिये आमंत्रण दिया जिसका अग्निशर्मा ने स्वीकार किया। पारणे के दिन राजमहल पर पहूँचा... परंतु भयंकर शिरोवेदना से त्रस्त गुणसेन पारणे को भूल गया। कुछ प्रतीक्षा करके तापस बिना पारणा वापिस लौट गया। तप के साथ समता में भी आगे बढ़ा। स्वस्थ होने के बाद गुणसेन को तीव्र पश्चात्ताप... आश्रम में आना... पुन: पारणा का अत्याग्रह... अग्निशर्मा द्वारा स्वीकार... क्यों कि मन में कोई रोष है ही नहीं। अचानक आ पड़े युद्ध की तैयारी में व्यस्त गुणसेन ने दूसरा पारणा भी चूकाया। पारणा याद आया... दौड़ा।... मगर अग्निशर्मा कुछ प्रतीक्षा करके आश्रम की ओर चल पड़ा था। गुणसेन ने रास्ते में ही वापिस पधारने का अत्याग्रह किया... मगर अग्निशर्मा ने स्वप्रतिज्ञा में कोई Compromise नहीं किया।

(अनुसंधान - पृ - ९६)

७. टेंकर: पेट्रोल का या पानी का?

धूम्रपान के शौकिन एक व्यक्ति ने खतम हो रही सिगरेट को बिना बुझाये ही दूर फैंक दिया। ज़लती हुई सिगरेट रुई के गोडाउनमें पडी।देखते ही देखते रुई ने आग पकड़ ली। पूरा गोडाउन जलकर साफ, पचास लाख रूपयों का नुकसान हुआ। परंतु गोडाउनके मालिक ने इस धूम्रपान के शौकिन व्यक्ति की हरकत देख ली थी इसलिए कोर्ट में अपने नुकसान का मुआवजा पाने के लिए केस दाखिल किया। धूम्रपान के व्यसनी को आरोपी के कठघरेमें खडा किया गया। उसे प्रश्न पूछा गया, 'क्या तुम उस समय धूम्रपान करते हुए जा रहे थे?'

'हाँ जी' उसने उत्तर दिया।

आखिर जलती हुई सिगरेट तुमने कहीं फैंकी थी ?

'जी हाँ नामदार।'

'सिगरेट का वह टुकड़ा रूइ के गोदाम में जा कर गिरा था?'

'जी हाँ।'

'तो तुम्हें गोदाम के मालिक को जो पचास लाख रूपये का नुकसान हुआ है वह भरपाई करना होगा, क्योंकि आग लगने का कारण वह तुम्हारा सिगरेट था।' 'नहीं, नामदार नहीं। आग सिगरेट के टुकड़े के कारण लगी थी यह सही नहीं है।' न्यायधीश, दोनों पक्ष के वकील एवं कोर्ट में उपस्थित सब लोग स्तब्ध हो गए।

'अगर आग तुम्हारे सिगरेट के कारण नहीं लगी है तो फिर किस कारण से लगी थी?'

'नामदार ! आग इसलिए लगी कि गोदाम में रुई भरी हुई थी। अगर मालिक ने गोदाम में लोहा (स्क्रेप) भरा होता तो सिगरेट का टुकड़ा तो क्या, जलता हुआ लकड़ा भी फैंका गया होता तो भी आग लगी होती क्या?'

वास्तविकता तो यही है कि न तो केवल चिनगारी के कारण आग लगती है और न ही केवल पेट्रोल से। दोनों का संयोग होने पर ही आग लग सकती है। उसी प्रकार केवल गालीरूप निमित्त मिलने से क्रोध की आग भड़कती नहीं है या

न ही अकेले क्रोधी स्वभाववाले आत्मा रूप उपादान के कारण क्रोधाग्नि भड़क उठती है। इन दोनों का संयोग होने पर ही क्रोध उत्पन्न होता है। अत एव 'उसने गाली दी इसलिये मुझे गुस्सा आया' ऐसी बात को पूर्णत: सत्य मानना गलत है। और जो वर्तमान में अशांति नहीं चाहता तथा भविष्य में दु:ख-दुर्गति नहीं चाहता है उसके लिये तो सर्वथा अनुचित ही है।

अंगारे माँगने के लिए आये हुए युवक को ना कहने पर भी फिर से माँगने पर साधु ने कहा, 'भाई तुझे सुनाई नहीं दे रहा है क्या? हमने एक बार तो कहा कि आग बुझ गई है।' इतना कहने पर भी युवक ने फिर से माँग की। अब साधु को बुरा लगा। बोला, 'क्यों हठ कर रहे हो?' तो युवक ने कहा, 'स्वामीजी, असत्य क्यों बोल रहे हैं? राख के नीचे दबी हुई आग स्पष्ट दिखाई दे रही है।'

'तू तो बड़ा ढ़ीठ लगता है। स्पष्ट कहा कि आग नहीं है, फिर भी माँगता रहता है।' शब्दों में उनका क्रोध स्पष्ट झलक रहा था। 'मेरी अपनी आँखों से देख रहा हूँ धुआँ!, स्वामीजी! और आप ना क्यों कह रहे है?' युवक के मुँह से यह शब्द सुनते ही साधु ने अपना चिमटा उठाया और युवक की ओर झपटा।युवक ने उसी स्वस्थता के साथ कहा, 'अब तो आपकी आग से चिनगारी भी निकलने लगी हैं। अगर आपके पास आग होती ही नहीं तो यह कैसे संभव होता?'

भीतर आग है इसका अर्थ यही है कि उपादान तो है। और उपादान है तो एक छोटीसी चिनगारी भी विस्फोट कर सकती है। उपादान को अपने पास रखना और फिर भी विस्फोट न हो उसके लिए कोई चिनगारी फैंके ही नहीं ऐसी अपेक्षा रखना... यह तो कभी भी सफल होनेवाली बात नहीं है, क्यों कि इसमें स्वाधीनता नहीं है। हमारे संपर्क में तो अनेक लोग आते हैं, उनमें से कौन, कब, कहाँ से, किस प्रकार एक चिनगारी ड़ाल दे, क्या कहा जा सकता है? सबके हाथों को सदा के लिए बाँध के रखना तो संभव ही नहीं है। और हमारी ढ़ीठता, उलटी बुद्धि, स्वयं के पूर्वकर्म - ये सब भी दूसरे लोगों को चिनगारी फेंकने के लिए उकसा सकता हैं। इसलिए कोई चिनगारी न फेंके ऐसी अपेक्षा करना मूर्खता है। अगर विस्फोट होने नहीं देना है तो उपादान को ही दूर कर देना चाहिए, अर्थात् अपनी आत्मा को ही इस प्रकार तैयार कर दें कि कोई अपशब्द कहे या कुछ भी करे, क्रोध की आग उत्पन्न ही न हो। अरे! क्रोध की आग तो क्या, उसके विपरीत हृदय में शत्रु के प्रति भी प्रीति और करुणा की ही धारा प्रवाहित होती रहे। गोरखपुर से प्रकाशित हिंदी मासिक कल्याण के वर्ष ३५ के एक अंक में पृष्ठ ९५२ से ९५५ पर प्रकाशित एक सत्य घटना का इसी संदर्भ में उल्लेख कर रहा हूँ।

करीब चालीस वर्ष पूर्व घटि तयह घट नाहै। हुगली जिले के एक छोटेसे गाँव के पुरोहित का पुत्र रामतनु कलकत्तागया। नौकरी के साथ साथ अभ्यास करके MA कर लिया। धीरे धीरे प्रगति करता हुआ प्रति मास दो सौ रूपये की वेतन के साथ एक सरकारी पाठ शालाका आचार्य बना। उस जमाने में इतनी वेतन बहुत अधिक समझी जाती थी। उनका एवं उनकी पत्नी का भी स्वभाव बहुत ही अच्छा था। अभिमान तो अंशमात्र भी नहीं। किसीकाबुरा कभी सोचा भी न होगा। उलटे, सबका भला करने की ही भावना और प्रयास। अत: संपूर्ण गाँव में आदर, प्रीति और प्रशंसा के पात्र बने हुए थे। परंतु उनके एक पडोसी अधरचंद्र को उनकी प्रगति से एवं प्रतिष्ठा के कारण अत्यधिक ईर्ष्या होती थी और बार बार वह रामतनु को बेआबरु करने के लिए कुछ न कुछ खट पटकरता ही रहता था। परंतु जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।रामतनुबाबु की दृष्टि में तो मैत्री और करुणा की ही धारा प्रवाहित थी अत: वे तो सब को मित्र ही समझते थे। अधरचंद्र शत्रुतापूर्ण व्यवहार कर सकता है ऐसी तो उन्हें कल्पना भी नहीं थी।

एक दिन अधरचंद्र ने एक कुटिलयोजना बनाई। उसने दो तीन गुंडोंको तैयार किया। बाहर से एक कुलटाको बुलाया। यह स्त्री चिल्ला चिल्लाकर शोर मचाएगी और रामतनुबाबु पर झूठा इल्जाम लगाएगी और फिर उसे बचाने के बहाने गुंडे उन पर टूटपडेंगे ऐसी उसकी योजना थी। एक दिन उसने अपनी योजना के अनुसार काम शुरू किया।

दोपहर के समय रामतनु बाबु घर की ओर जा रहे थे। एक छोटीसी निर्जन गली में वह स्त्री खड़ीथी। जैसे ही रामतनु बाबु वहाँ से निकले कि उसने चिल्लाना शुरू किया - हरामखोर, छोड...छोडमुझे...! एक ब्राह्मण शिक्षक हो करऐसी बदमाशी कररहा है? मेरी लाज लूट नाचाहता है? कोई बचाओ... मुझे कोई बचाओ...' ऐसा बोलती हुई वह एकदम उनके निकट आ गई। अपने वस्त्र भी उसने अस्तव्यस्त करडाले।अधरचंद्र भी वहीं पर गुंडोंके साथ छुपकरखड़ा था। वह भी बाहर आकर शोर मचाने लगा। अपशब्द बोलते हुए उसने रामतनुबाबु कोपीट नाशुरु किया।गुंडे भी उन पर टूटपडे।रामतनुबाबु तो बेचारे भारी आघात के साथ स्तब्ध हो गए। वे कुछ समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह सब क्या हो रहा है, क्यों हो रहा है? शोर सुनकर आसपास के घरों से लोग बाहर दौड़ आये, और बड़ीसंख्या में एकत्रित हो गए।

लोग रामतनुबाबु की सज्जनता से परिचित थे। उनके प्रति सबके मन में आदर भाव था। क्यों कि प्राय : सभी लोगों पर उन्होंने कभी न कभी, कोई न कोई उपकार किया ही था। वैसे उपकार तो अधरचंद्र पर भी किया था। पडोसी

होने के नाते कईबार उसकी सहायता की थी। जब सारे गाँव में प्लेग फैला हुआ था और अधरचंद्र भी उससे पीडित था तब उसके परिवार के लोग - 'सब स्वारथ के साथी' वाली उक्ति को सार्थक करते हुए उसे अकेला छोड़ कर चले गए थे। उस समय रामतनुबाबु ने अपनी सेवावृत्ति का, परोपकार करने की भावना का परिचय देते हुए रात-दिन उसकी सेवा की थी। विविध प्रकार के उपचार एवं औषधिओं की सहायता से उसे बचा लिया था। उसके परिवार के लोग तो उसके स्वस्थ होने के बाद ही वापिस आये थे। और वही कृतघ्न अधरचंद्र आज ईर्ष्यावश रामतनुबाबु को बदनाम करनेका प्रयत्न कर रहा था।

परंतु कुदरत तो अपना काम करती ही है। यह सारा तमाशा देखने के बाद भी लोगों को रामतनुबाबु की निर्दोषता एवं सज्जनता पर विश्वास था और अधरचंद्र ही दोषित और दुर्जन है - यह सब जानते थे। उस स्त्री को भी किसीने पहचान लिया कि वह पडोसीगाँव की आवारा नीच औरत थी और इस प्रकार के काम के लिए वह कुख्यात थी। गुंडोंको भी लोगों ने पहचान लिया। रामतनु को बचाकर वे सब अधरचद्र एवं गुंडोंपर टूटपड़े।

परंतु कोमलहृदयी रामतनुबाबु यह सब सहन न कर सके। दोनों हाथ जोड़ करउन्होंने लोगों से विनंती की। खुद बीच में पड़े और कठिनाईसे उन सब को बचाया। वह आवारा औरत तो पहचानी गई तो तुरंत वहाँ से भाग गई। फिर भी यह सब देखकर दो आदमी दूर के गाँव में खबर देने के लिये दौड़े जहाँ पुलीसचौकी थी। सारी बात सुनकर पुलिसों को साथ लेकर फौजदार ने पूरी जाँच की और अधरचंद्र और गुंडोंको पकड़ लिया। सब लोक साक्षी देने के लिए तैयार थे, उस स्त्री को भी पुलिस भेजकर बुलवा लिया। उसने तो आते ही अपना अपराध मान लिया और कह दिया कि अधरचंद्र ने पंद्रह रूपये देकर उसके पास वह काम करवाया था। परंतु सब गुंडे रामतनुबाबु को मारेंगे इस बात की उसे कल्पना नहीं थी।

अधरचंद्र की तो स्थिति ऐसी लज्जास्पद हो गई कि क्या करे? यही समझ में नही आ रहा था। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। उसकी स्थिति देखकर रामतनुबाबु को भी बहुत दु:ख हुआ।उन्होंने फौजदार से विनंती की कि वे अधरचंद्र को छोडदें। पुलिस अधिकारी ने उनका मान रखने के लिए उनके प्रति आदर तो प्रदर्शित किया परंतु सख्त शब्दों में यह भी कहा - 'आप हमारे काम में दखल न दें। हमने इन सबको रंगे हाथों पकड़ लिया है। उन्हें सज़ा करने के लिए हमारे पास पर्याप्त साक्षी एवं पुरावा हैं, इसलिए आप इस विषय में कुछ भी मत बोलें।' जब रामतनुबाबु ने खूब विनंती की तब वे बोले, 'हमने हुगली से आपकी

चोंट और मार के रीपोर्ट तैयार करवाने हेतु डॉक्टर को बुलाया है और आप इन्हें मुक्त कराना चाहते हैं?' फौजदार ने आदरपूर्वक रामतनुबाबु को घर पहुँचाया। साथ एक पुलिस को भी भेजा जो डॉक्टर के आने पर उनका रिपोर्ट लेकर थाने आये।

इस ओर गाँव के कई लोग रामतनुबाबु के घर पर एकत्रित हो गए। 'अपराधियों को दंड मिलना ही चाहिए' यही सब चाहते थे। परंतु रामतनुबाबु की इच्छा कुछ अलग ही थी।

अधरचंद्र को बचाने की उनकी प्रबल इच्छा थी। उन्होंने लोगों से कहा, 'प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता है, परंतु दु:ख तो सब को होता ही है। मुझे जो चोंट लगी हैं वह तो मेरे ही किसी पूर्वकृत कर्म का फल है। मेरा कोई दुष्कर्म न होता तो अधरचंद्र की क्या ताकत है कि मेरा बाल भी बाँका कर सके? अर्थात् यह तो मेरे कर्म का ही फल मुझे मिला है। अधरचंद्र तो केवल एक निमित्त है। परंतु इस कारण से वह और उसका परिवार कितनी झंझटों में फँस गए हैं! इसलिए वे तो दया एवं क्षमा के पात्र हैं। अत: मैं आप सब को विनंती करता हूँ कि हम सब फौजदार से प्रार्थना करें कि वे इस केस में आगे न बढ़े। और अगर वे हमारी इस विनंति का स्वीकार न करें तो हम ऐसी व्यवस्था करें कि अधरचंद्र के विरुद्ध कोई साक्षी न दें। मैंने अब तक मेरा निवेदन दिया नहीं है। मैं कह दूँगा कि गिर जाने के कारण मुझे चोंट लगी है।

लोग तो यह सब सुनकर स्तब्ध हो गये। कोई मन ही मन रामतनुबाबु की प्रशंसा कर रहा था तो कोई उनकी टीका भी कर रहा था कि इस प्रकार तो अपराधों को बढावा ही मिलेगा। परंतु रामतनुबाबु की आँखों से तो करुणा के अश्रु बह रहे थे। गाँव के लोगों में श्रीहरिपद नामक एक वृद्ध सज्जन थे। उन्होंने रामतनबाबु की प्रशंसा करके गाँव के लोगों को उनकी बात समझाने का प्रयास किया। अब गाँव के लोगों के दिल भी कुछ परिवर्तित हुए। थोड़ी देर में डॉक्टर भी आ गये। वे भी रामतनुबाबु की सज्जनता से परिचित थे। उनके प्रति डॉक्टर के मन में आदर था। अधरचंद्र के पक्ष में हो ऐसा ही रीपोर्ट देने के लिए रामतनुबाबु ने उन्हें समझाया। परंतु उनके दिमाग में यह बात बैठती नहीं थी, फिर भी उन्होंने इतना स्वीकार किया कि मैं अभी किसी प्रकार का रीपोर्ट नहीं लिखूंगा। अगर फौज़दार आपकी बात का स्वीकार कर लेते हैं तो फिर रीपोर्ट लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

डॉक्टर के जाने के बाद वे गाँव के चार-पाँच मान्य वृद्ध पुरुषों को लेकर पुलिस थाने गए, सब बातें फौज़दार को समझाईं और बिना केस दर्ज किये ही

सब को छोड़ देने के लिए खूब विनंती की। थानेदार पर भी रामतनुबाबु की करुणा का सुंदर प्रभाव पड़ा। योगानुयोग उस दिन पुलिस के सर्कल इन्स्पेक्टर प्रमथबाबु भी वहाँ आये हुए थे। उन पर भी रामतनुबाबु के ऐसे विलक्षण व्यवहार का प्रभाव पड़ा। थानेदार ने उनके साथ विचारणा की।

अधरचंद्र और उसके साथियों ने ये सब बातें सुनीं और उनके अंत:करण में भी सच्चे अर्थ में पश्चात्ताप जाग उठा। उनका अंत:करण पश्चात्ताप की आग में निर्मल बनता जा रहा था। इस समय प्रमथबाबु ने उन सज्जनों से कहा, 'आप रंगे हाथों पकड़े गए अपराधिओं को बचाकर अपराधों को बढ़ाने में निमित्त बन रहे हैं। ऐसे अपराधी - अगर उन्हें थोड़ी भी सज़ा न हुई तो अधिक अपराध करेंगे जो समाज़ के लिए भयप्रद है। रामतनुबाबु के हृदय में करुणा बह रही है। वे शायद यह बात नहीं समझ सकेंगे। परंतु आप सब लोग ऐसी बात में उनका साथ क्यों दे रहे हैं।'

अब श्रीहरिपद तथा रामतनुबाबु ने प्रमथबाबु को यह समझाने का प्रयास किया कि अपराध को प्रेम और सहानुभूति के द्वारा ही कम किया जा सकता है, दंड के द्वारा नहीं। दु:ख के समय में नि:स्वार्थ सेवा के द्वारा ही अपराधी का हृदयपरिवर्तन संभव है। और हम सब ने यह निर्णय लिया है कि अधरचंद्र और उसके साथियों के विरुद्ध किसीके द्वारा साक्षी न दी जाये तो फिर आप क्या कर सकेंगे? प्रथम से ही प्रभावित प्रमथबाबु पर इन सब बातों का विशेष प्रभाव पड़ा फिर भी उन्होंने थोड़ी सख्ती बताते हुए कहा, 'मुझे आप सबके प्रति बहुत आदर है। आपकी क्षमा और उदारता की मैं कद्र करता हूँ, परंतु अपराधी को इस प्रकार छोड़कर हमारा फर्ज़ हम चूक नहीं सकते। इसमें क्या किया जा सकता है इस विषय में हमें सोचना पड़ेगा। आप अगर अभी उन्हें छुड़ाना चाहते हैं तो आप लोगों में से किसीको उनका जामीन बनना पड़ेगा।'

प्रमथबाबु की बात पूरी होने के पूर्व ही रामतनुबाबु बोल उठे, 'सर ! आप जो भी कहेंगे वैसे रुप में जामीन - मुचरका (bond) देने के लिए मैं तैयार हूँ।' उनके ये शब्द सुनकर तो थानेदार और इन्स्पेक्टर दोनों के दिल पसीज़ गए। वे भी तो मनुष्य ही थे। उन्होंने अधरचंद्र से कहा, 'यह सब तुम सुन रहे हो ना? अब तुम्हें क्या कहना है?'

अधरचंद्र की आँखों से तो आंसूओं की धारा ही बह रही थी। रोते हुए कांपती आवाज में उसने कहा, 'नामदार ! मैं तो शेतान हूँ और वे देवों के भी पूजनीय संत हैं। फिर भी मैं छूटना नहीं चाहता। मुझे तो आप आजीवन कालापानी की सज़ा दें तो वह भी कम है, मेरा अपराध अत्यंत भयंकर है। आप

कोर्ट में केस दाखिल कर दीजिये। मैं स्वयं अपना अपराध कबूल कर लूंगा।'

प्रमथबाबु के कहने पर थानेदार ने सब कोछोड़ दिया। केस के कागज़ात सभी फाड़ डाले। सब प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से चले गए। प्रमथबाबु और थानेदार दोनों ने रामतनुबाबु के चरणस्पर्श किये।

इसी को कहते हैं - क्रोध के उपादान को ही दूर कर दिया। आत्मा को पानी का टेंकर बना दिया। अब, 'कोई इसमें चिनगारी डाले नहीं' ऐसी चिंता की कोई बात ही नहीं रहती। पेट्रोल के टेंकर को चिनगारी का डर होता है। पानी के टेंकर को किस बात का डर? वह तो चिनगारी को भी बुझा देगा। चंड कौशिक ने तो प्रभु की ओर मात्र चिनगारी नहीं आग की प्रखर ज्वाला ही फेंकी थी। फिर भी न विस्फोट हुआ न ज्वालाएँ उठीं और स्वयं चंड कौशिक ही ऐसा ठंडा पड़ गया कि क्षमामूर्ति बन गया।

आवश्यकता है पेट्रोल के टेंकर को पानी के टेंकर में रूपांतरित करने की। पेट्रोल ही न रहा - ईंधन ही न रहा, फिर आग की संभावना ही कहाँ? मेघकुमार के जीव हाथी को अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ जब वह हाथी ही था। वन में फैला हुआ भयंकर दावानल और उसमें विवश पशुओं का जलकर भस्म होना। संपूर्ण चित्र दृष्टि संमुख आ खड़ा हुआ। अब इस जन्म में ऐसे कष्ट उठाने न पड़ें इस के लिए एक सुरक्षित स्थान निर्मित करने का उसने निश्चय किया। चारों ओर भयंकर दावानल की लपटें फैल रही हों तब भी उसका कोई असर ही न हो, कोई ज्वाला वहाँ न पहुँचे... ऐसा तभी संभव है जब पसंद किये गए स्थान में से ईंधन ही दूर कर दिया जाय। वन प्रदेश में तो वृक्ष ही सब से बड़ा ईंधन होता है। उसने एक योजन विस्तार में से सभी वृक्ष जड़ से उखाड कर दूर फेंक दिये। एक विशाल मैदान बना दिया। और बाद में भी एकाद तिनका भी दिखाई दिया तो उसे भी साफ कर देता था। जब एक समय दावानल उठा तब हज़ारों पशुओं की सुंदर सुरक्षा इस मैदान में हो सकी।

प्रश्न - परंतु पेट्रोल के टेंकर का पानी के टेंकर में क्या रूपांतर संभव है?

उत्तर - संभव है। कानों में केवल कुछ अधिक क्षणों के लिए संगीत के स्वरों का प्रवेश, निद्रा में विक्षेप और क्रोध का पारा उस सीमा तक चढ़ गया कि शय्यापालक के कानों में गरम गरम सीसे का द्रव्य डालने का आदेश दे दिया। ऐसे दुर्वासा के समान क्रोधी स्वभाववाली आत्मा ने क्षमा को इस सीमा तक आत्मसात् कर लिया कि कानों में तीक्ष्ण खीले ठोंके जाने के बाद भी क्रोध की एक रेखा भी उभरी नहीं।

साधु के भव में सामान्य ज्वलनशील इंधन सा क्रोध बालमुनि पर किया था। चंड कौशिक ऋषि के भव में ज्वलनशीलता में वृद्धि हुई। 'आश्रम में से फल तोड़ने वालों को खतम ही कर दूं।' और दृष्टि विषसर्प के भव में तो स्वभाव अत्यंत ज्वलनशील हो गया। 'जो दृष्टि सन्मुख आया उसका अंत ही कर दूं।' किंतु बाद में प्रभु वीर की करुणावर्षा की धारा में इस प्रकार भीगा कि ज्वलनशीलता ही बुझ गई! स्वभाव बन गया हिम के समान शीतल! लोगों ने पत्थर मारे, डंडे से फटकारा, ज़ंगल की चीटिंयों ने शरीर पर डंक मार मारकर छलनी सा बना दिया, परंतु क्रोध का नाम - निशान भी नहीं।

तिर्यंचयोनि में एक दृष्टि विषसर्प भी अगर इस हद तक क्रोध पर अंकुश प्राप्त कर सकता है, क्रोधरूपी ज्वलनशील पेट्रोल को क्षमा रूपी जल में परिवर्तित कर सकता, तो हम क्यों नहीं कर सकते?

यह कार्य किस प्रकार किया जा सकता है यह हम अगले प्रकरण में देखेंगे...।

(पृष्ठ ८८ से चालु)

तीसरा मासक्षमण चालू... गुणसेन को अत्यंत व्यथा... उसे आश्वासन देने के लिये तीसरा पारणे का लाभ भी उसीको देने का अग्निशर्मा ने तय किया, क्योंकि पारणा न होने में स्वकर्म का ही दोष देखने से गुणसेन प्रति तनिक भी क्रोध था नहीं, अपूर्व समता ही थी। पारणे के लिये अग्निशर्मा तीसरी बार राजप्रासाद पर आया है। लेकिन राज़रानी ने आज़ ही पुत्र को जन्म दिया है। पूरा राजपरिवार खुशी में मदहोश हैं। 'पधारो तपस्वी पधारो...' आमंत्रण देने के लिये कोई Free नहीं है। कुछ देर के बाद अग्निशर्मा वापस लौट गया... मगर उसने विचारधारा बदल दी। गुणसेन ने पहले किये हुए क्रूरतापूर्ण उपहास... अभी तीन-तीनबार पारणा चुकाना... कुछ न कुछ बहाना निकालकर गुणसेन अभी भी मेरा उपहास ही कर रहा है... गुणसेन को निष्कारण वैरी मान लिया... और तापस के दिल में क्रोध की ज्वालाएँ भड़क उठी। नियाणा कर लिया कि मेरे इस दीर्घ-घोर तपका यही फल मुझे चाहिए कि मैं भवोभव गुणसेन को मारनेवाला बनूं... कुलपति आदि सभी को अत्यंत व्यथा... अनेक रीति से समझाया... मगर वैर की गांठ को शिथिल करने के लिए वह तैयार नहीं था।

(अनुसंधान - पृ - १२१)

८. पेट्रोल - पानी

एक मकान में आग लगी। धधकती हुई आग की लपटें मानो आकाश को छूने का प्रयास कर रही थीं। उस मकान में दो भाई रहते थे। दोनों में विवाद हो गया। बड़ा भाई छोटे भाई को दोषित ठहराने का प्रयत्न कर रहा था। बोला 'तूने ऐसी गलती की इसी कारण से यह आग लगी है।' छोटा भाई भी पीछे हटनेवाला नहीं था। 'मैंने क्या किया है? गलती तो आपकी है।' दोनों चर्चा में खो गए और पड़ोसी चिल्लाते है - 'अरे ! पहले आग बुझाने का उपाय तो करो।' लेकिन दोनों भाई मना कर रहे है... 'पहले भूल किसकी है यह निश्चय होने दो... बाद में ही आग बुझाई ज़ाएगी...'

इन दोनों को आप क्या कहेंगे? बुद्धिमान या पागल?

सभा - इसमें प्रश्न ही कहाँ है? दोनों पागल ही हैं। कारण यह है कि किसकी भूल है यह तय हो तब तक तो सब कुछ जलकर राख हो जायेगा। फिर किसकी भूल थी यह तय हो जाय तो भी फायदा क्या?

तो यह बात इस बात का सूचन करती है कि आग लगने पर प्रथम कर्तव्य है आग बुझाना, नहीं कि 'गलती किसकी है?' यह निश्चित करना...

ज्ञानीजन कहते हैं - जिस प्रकार एक मकान में आग लगती है उसी प्रकार आत्मा रूपी भवन में भी आग लगती है - क्रोध की आग ! यह आग जब प्रज्वलित होती है तब भी मनुष्य का प्रथम कर्तव्य होता है उस आग का शमन करना। नहीं कि 'तूने मुझे गाली दी इसीलिए मुझे गुस्सा आया ' इत्यादि रूप से भूल किसकी है यह निश्चय करना...

पानी छिड़कने से आग बुझ जाती है। पेट्रोल डालने से आग और भी भड़क उठती है। क्रोध की आग का भी ऐसा ही है। वह कौन सा पानी है जिसे छिड़कने से क्रोधाग्नि का शमन होता है? वह कौनसा पेट्रोल है जो क्रोधाग्नि को अधिक भड़काता है? संक्षेप में पूछें तो क्रोधाग्नि के लिए जल क्या और पेट्रोल क्या?

सभा - क्षमा - समता ही जल है।

नहीं, यह तो परिणाम है। क्रोध का शांत हो जाना यही तो क्षमा - समता है। परंतु वह कौनसा जल है जिसे छिड़कने से क्रोध शांत हो जायेगा?

अपनी गलती को देखना, यही क्रोधाग्नि के लिए पानी है और औरों की भूल को देखना यह क्रोधाग्नि के लिए पेट्रोल है।

विविध क्षेत्रों के अग्रगण्य लोगों की मीटिंग है। आपको भी उसमें आमंत्रित किया गया है। बिलकुल नये, चमकदार, उजले सफेद कपड़े पहन कर जाने का आपने तय किया है। जरा देर हो गई है, जल्दी जल्दी तैयार होना है। आपने नौकर से कहा, 'चल, यह रुमाल, पाकीट - पेन वगैरेह सब पेन्ट की जेब में रख दे।' आप कपड़े पहनकर बाहर निकलें उसके पहले तो जेब के पास स्याही का बड़ा सा नीले रंग का धब्बा दिखाई दिया। नौकर पेन रखते समय उसका ढक्कन ठीक से बंद करना भूल गया था। दाग देखते ही आपका गुस्सा सातवें आसमान पर पहुँचा। जोर से एक थप्पड दीया नौकर के गाल पर।

'हरामखोर ! पेन का ढक्कन बंद करना नहीं आता?'

कुछ दिन बाद ऐसे ही किसी प्रसंग पर खुद आपने ही पेन जेब में रखा और ढक्कन बंद करना भूल गए थे। फिर नीले रंग का दाग लगने में कितनी देर लग सकती है? इस दाग को देखते ही पूर्ववत् आपका गुस्सा सातवें आसमान पर पहुँचेगा? अपने ही गाल पर कस कर एक तमाचा आप जड़ देंगे ना? नहीं। क्यों? क्यों कि ऐसा गुस्सा आपको आयेगा ही नहीं। कारण यह है कि आज खुद की गलती देखी है ।

आप एक महीने के लिए यात्रा करने गए हैं। भागीदार ने कोई सौदा किया और एक लाख रुपये का नुकसान हो गया। लौटने पर आपको पता चला और आप बोल उठेंगे - 'व्यापार इस प्रकार होता है क्या? मुझे पूछा भी नहीं? मैं बाहर गया हुआ था तो क्या हुआ? राह देखनी चाहिए। आज एक लाख का नुकसान हुआ, कल पाँच लाख का होगा। इस प्रकार तो दिवाला ही निकल जायेगा।' कैसी झुंझलाहट का आप अनुभव करेंगे? दिमाग फट ने लगेगा ना?... और उससे विपरीत... भागीदार नहीं है और आपने सौदा किया। एक लाख का नुकसान हुआ। वह भागीदार झुंझला उठा है तब आप क्या कहेंगे?

'इतनी अकुलाहट क्यों? व्यापार है, कभी नुकसान भी होता है। इस बात पर झगडने के बदले दूसरे सौदे पर ध्यान देंगे तो घाटे की पूर्ति कर सकेंगे ना?' दूसरों की भूल देखने पर हमारा व्यवहार और हमारी वाणी का स्वरूप कैसा होता है और स्वयं की भूल देखने पर हमारे वाणी व्यवहार का स्वरूप कैसा हो जाता है?

छुट्टी के दिन पिता पुत्र घर के आँगन में कुर्सी में बैठे हुए अखबार पढ़ रहे थे। रसोई घर में से अचानक काँच के मर्तबान के गिरकर फूटने की आवाज़ आई।

पिताने पुत्र से कहा, 'जरा अंदर जाकर देख तो किसके हाथ से मर्तबान फूटा है?'

पुत्र ने बिना अंदर गए ही कह दिया...। 'मेरी माँ के हाथ से..।'

पिता - 'बेटे! बिना देखे ही तू कैसे कह सकता है?'

'पिताजी, मर्तबान फूटने के बाद दूसरी कोई आवाज़ नहीं आई, इसलिए कहता हूँ।'

जीवन में प्रतिदिन होनेवाली ऐसी अनेक घटनाओंसे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति जब स्वयं की गलती देखता है तब क्रोध की ज्वालाएँ नहीं उठने लगतीं परंतु उस समय अगर वह दूसरों की गलती देखना शुरु कर देता है तो क्रोधाग्नि की ज्वालाओं से बच नहीं सकता है।

ऐसी सभी बातों में हमारे लिए तो अग्निशर्मा ही लिटमसपेपर है। प्रथम पारणा हुआ नहीं है। अग्निशर्मा वापिस तपोवन में पहुँच गया। तापसों को पता चल गया कि पारणा हुआ नहीं है। सब व्यथित हो गए। कई साधकों के मन में गुणसेन के प्रति रोष भी हुआ। परंतु अग्निशर्मा ने उन सब से कहा - *'आरोग्गं से हवउ गुरुयणपूयगस्स, किं मम आहारेणं ति?'* (गुरुजनों की पूजा करनेवाला गुणसेन स्वस्थ रहो। मेरे आहार की चिंता किसलिए? 'अर्थात् पारणा हुआ या न हुआ, मुझे क्या फर्क पड़ता है?) अब गुणसेन आश्रम पहुँचा। पारणा चूका देने के विषय में कुलपति से बात करने से बहुत ही डर रहा था। तब कुलपति ने गुणसेन से कहा - *'वत्स! सव्वस्स जणणीभूओ खू होई तवस्सिजणो। तओ का तं पइ लज्जा?* (वत्स ! तपस्वीजन तो सब की माता के समान होता है। फिर उससे अर्थात् माता से बात करने में लज्जा कैसी?)

दूसरी बार पारणे के दिन अग्निशर्मा गुणसेन के राजप्रासाद पर पहुँचा। न किसीने स्वागत किया न किसीने उसकी ओर ध्यान ही दिया। कुछ देर प्रतीक्षा करके वह वापस लौटने लगा। उसी समय गुणसेन को पारणे का स्मरण हो आया। घबराया हुआ वह आश्रम की ओर दौड़ा। मार्ग में ही अग्निशर्मा मिल गया। उसे वापिस लौट कर पारणे का लाभ देने के लिए विनंती करता है। उस समय अग्निशर्मा ने कहा, *'सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति, निव्विसेसा य लाभालाभेसु।'* अर्थात् तपस्वी सत्यप्रतिज्ञ होते हैं - प्रतिज्ञा का पूर्णरूप से - अक्षरश : पालन करनेवाले होते हैं, इसमें जरा सा भी समझौता नहीं करते। इसलिए मैं भी अब पारणा करने के हेतु से वापस नहीं आ सकता और पारणा हो या न हो, दोनों परिस्थितियों में तपस्वी समान चित्तवाले होते हैं। (अर्थात् पारणा

हुआ नहीं तो भी मुझे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। मैं तो उतना ही स्वस्थ - सानंद हूँ।)

परंतु जब तीसरा पारणा भी विस्मृत हो गया तब श्री हरिभद्रसूरि महाराज के ग्रन्थगत शब्द देखें - *एत्थंतरम्मि य अन्नाणदोसेणं अभावियपरमत्थमग्गत्तणेण य गहिओ कसाएहिं, अवगया से परलोयवासणा, पणट्ठा धम्मसद्धा, समागया सयलदुक्खतरुबीयभूया अमेत्ती, जाया य देहपीडाकारी अतीवबुभुक्खा।* अर्थ - इस कालान्तर में अज्ञानवश और पारमार्थिक मार्ग की भावना को आत्मसात् न कर सकने के कारण वह कषायग्रस्त हो गया। परलोक को सुधारने की तीव्र उत्कण्ठा नष्ट हो गई, धर्मश्रद्धा खतम हो गई, सर्व दुःखरूपी वृक्ष के बीजरूप अमैत्री अर्थात् शत्रुता ने जन्म लिया... और देह को पीडितकरनेवाली तीव्र बुभुक्षा जाग उठी।

कुलपति द्वारा दिये गए कर्मविज्ञान का विस्मरण हो गया जिससे वह अज्ञानग्रस्त हो गया। तथा 'तीन तीन बार पारणा न हो और उसके कारण भूख वगेरे यातनाएँ जो सहन करनी पड़ती है इन सबके मूल में कर्मसत्ता है, गुणसेन नहीं,वह तो केवल जेलर है।' : ऐसी विचारधारा परमार्थ है। ऐसी विचारधारा के प्रभाव से समताभाव बनाये रखना यही आत्मकल्याण का एवं उज्जवल परलोक का पारमार्थिक मार्ग है। इस मार्ग की प्राप्ति की उच्च भावना दुर्बल पड़ गई, फलतः गुणसेन ही दोषित है यह मान्यता बलवत्तर होने लगी। अन्य व्यक्ति का दोष दिख पड़ा तो तत्क्षण क्रोधाग्नि की ज्वालाएँ प्रज्वलित हो उठीं।क्रोधित हुआ तो परलोकदृष्टि एवं धर्मश्रद्धा सब कुछ अदृश्य हो गए और सर्व दुःखों के मूल स्वरूप शत्रुता ने मन पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया।

लिट्मसटेस्ट का रीपोर्ट स्पष्ट है। दो बार पारणा न हो पाया तब तक स्वभूल का दर्शन रहा। तब तक मन कितना स्वस्थ, प्रसन्न और निर्मल बना रहा। परंतु तीसरी बार पारणा विस्मृत हो गया तो अब गुणसेन की भूल दिखाई दी। अन्य की भूल का दर्शन... यह तो पेट्रोल है... क्रोध की आग फैलना चालु हो गई। उस आग में मन की शांति, स्वस्थता, प्रसन्नता, सुंदरता सब कुछ स्वाहा हो गया। और अब... अशांति, क्रूरता, वैरभाव के कल्मष ने मन को कलुषित बना दिया।

महासती सीता की कुक्षि में लव-कुश के पुण्यवान जीव विकसित हो रहे हैं। उनके प्रभाव से - अमारिप्रवर्तन कराऊँ, प्रभुभक्ति के महोत्सव कराऊँ, सुपात्र दान दूँ, तीर्थयात्रा करूं इत्यादि दोहद जागृत हुए। तीर्थयात्रा के अतिरिक्त अन्य सभी दोहद तो रामचंद्रजी ने पूर्ण कर दिये। इसी बीच प्रजा ने सीताजी पर कलंक रखा - दीर्घकाल तक रावण के घर में रह चुकीं सीताजी को हम निष्कलंक

कैसे मान लें? उनका सतीत्व शुद्ध कैसे हो सकता है?' ऐसी बात को फैलने में देर कैसी? रामचंद्रजी तक यह बात पहुँची। सीताजी के त्याग का उन्होंने निर्णय ले लिया। सेनापति कृतांतवदन को सारी बात समझा दी।

रथ तैयार करके सेनापति सीताजी के पास आया। 'देवी ! तीर्थयात्रा की आपकी इच्छा है न ! आइये, रथ तैयार है।'

सीताजी के मन में तो कोई शंका ही नहीं है। वे तो रथारूढ हो गई। सेनापति रथ लेकर वन में आये। घोर अरण्य के बीच रथ को रोका। सीताजी ने पूछा, 'सेनापतिजी ! यहाँ तो कोई तीर्थ नहीं है। यहाँ रथ क्यों रोक दिया?' सेनापति की आँखों से अविरत अश्रुधारा बह रही है। व्यथित स्वर में सारी बात सीताजी को बताई। निबिड निर्जन वन। चारों ओर हिंसक वन्य पशुओं की गर्जना, विषैले भयंकर सर्पों की सरसराहट। एक रात भी सुरक्षित व्यतीत होगी या नहीं? विकट प्रश्न था। ऐसे भयंकर स्थान में, सगर्भावस्था में सीताजी को छोड़ देना? कौन किसे आश्वासन दे सकता था? सेनापति को सीताजी या सीताजी को सेनापति?

देखिए स्वभूल दर्शन का चमत्कार! रुदन कर रहे सेनापति को सीताजी स्वस्थ होने के लिए समझा रही हैं। 'भाई, रुदन किसलिए? इसमें तुम्हारा क्या दोष है? तुम तो स्वामि के सेवक हो। उनकी आज्ञा का पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है और मेरा भी, और उनका भी क्या दोष है? जिस प्रजा पर उन्हें शासन करना है उसे संतोष प्रदान करना यही उनका कर्तव्य है जिसे वे निभा रहे हैं और प्रजा का भी क्या दोष है? कर्मसत्ता ही उन्हें ऐसा सोचने के लिए विवश कर रही है। अन्यथा इसी प्रजा ने मुझे जगदंबा, महासती, सीतामाता कह कर मेरे नाम का जयजयकार किया था।'

वापस लौटते हुए सेनापति ने सीताजी से पूछा, 'स्वामी को आप कोई संदेश देना चाहती हैं?' इस समय भी सीताजी ने यह न कहा - 'आपका यह कैसा न्याय? एक पक्ष की ही बात सुनकर दंड दे दिया? मुझसे तो कुछ पूछ ना था ! एक सामान्य मनुष्य भी, पत्नी का त्याग करना चाहे तो उसे उसके पिता के घर भेज देगा। आप तो इतने महान राजा इसलिए मुझे घोर वन में छोड़ दिया? धन्य है आपके औचित्य को !' न कोई कटाक्ष न कोई आक्रोश। इतनी स्वस्थता... इतनी शांति... ! कहाँ से प्राप्त हुई होगी...? कहिए.... स्वभूल दर्शन में से।

अपनी ही भूल को देखनेवाले को - 'यह मेरी ही भूल है और मुझे ही उसका परिणाम भोगना है' ऐसा विचार पीडा को सहने के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है। वही कष्ट जब मानसिक तैयारी होती है तब सहना आसान

लगता है। दूरी अगर बारह कि.मीटर की है ऐसा कहा गया हो और वास्तव में पंद्रह किलोमीटर हो तो आखिरी तीन किलो मीटर चलना कठिन हो जाता है। परंतु पहले से ही सही दूरी मालूम हो तो वह आसानी से तय हो जाती है। क्यों? क्यों कि उतनी मानसिक तैयारी होती है। उसी प्रकार अपनी भूल को देखनेवाले को मानसिक तैयारी के कारण पीडा सहन करना सरल लगता है। इसी कारण से स्वस्थता बनी रहती है।

दूसरों का दोष देखनेवाला 'उसकी भूल की सज़ा मैं क्यों सहन करूँ?' ऐसे विचारों के कारण पीडा सहने के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं होता। पीडा को टालने का... पीडा का प्रतिकार करने का ही उसका मानस होता है। और फिर भी जब पीडा टाली नहीं जाती ऐसे संयोगों में पीड़ा को टालने की अपनी इच्छा को असफल होते देखकर उसका अहंकार आहत होता है। अपनी विवशता का अनुभव उसे होता है। ये सभी संयोग उसकी पीडा को अत्यधिक असह्य बना देते हैं। अपना काम भी टालने की इच्छा रखनेवाली जेठानी को अगर देवरानी का काम करने को विवश किया जाय तो कितना असह्य लगेगा? असह्य पीडा सहन करनी पड़े तो अस्वस्थता और झुंझलाहट का अनुभव होगा ही।

अपने कष्टों के मूल में दूसरों को देखनेवाले को वह व्यक्ति 'शत्रु' ही प्रतीत होगा। शत्रु के द्वारा दी गई पीडा तो सहन करने को कौन तैयार होगा? और फिर भी सहन करनी पड़ रही है, अतः मन उसके प्रति और व्याकुल हो जाता है! शत्रुता - प्रतिशोध लेने की वृत्ति आदि तीव्र बनी ही होती है, अतः जब तक प्रतिशोध नहीं लिया जाता तब तक मन अशांत - अशांत रहा करता है। मन को कहीं भी चैन नहीं मिलता।

हमारी भूल तो भूतकाल की बात अर्थात् जो बन चुकी है - ऐसी बात बन गई है। अब उसमें कुछ भी बदलाव करना-अल्पता करना संभव नहीं। इसलिए उसकी सज़ा के रूप में जो भी भोगना है उसे कम करना हमारे वश की बात नहीं है ऐसा मानसिक रूप से स्वीकार हो जाता है, अतः कष्टों को सहन कर लेने हेतु मानसिक तैयारी भी स्वतः हो जाती है। परंतु जो मनुष्य - अपनी परेशानियों का मूल अन्य व्यक्ति है - ऐसा मानता है उसे तो दूसरों के विचित्र शब्द, विचित्र व्यवहार आदि वर्तमान कार्य ही अपने दुःखो का कारण है ऐसा प्रतीत होता है और इसी कारण से उस व्यक्ति की ऐसी प्रवृत्ति बंद हो या कम हो जाय तो अपना दुःख भी दूर हो जाय या कम हो जाय ऐसी संभावना लगने से उसे रोकने की या कम करने की इच्छा जागृत होती है और फिर उसके प्रयत्न शुरू हो जाते हैं।

इतना करने पर भी जब वह व्यक्ति वैसी प्रवृत्ति को बंद नहीं करता और फलतः अपने दुःखों का अंत नहीं आता तब यह परिस्थिति असह्य हो जाती है। वह व्यक्ति अत्यधिक दुष्ट लगता है। अपना अहंकार आहत होता है। दुःखों को, परेशानियों को कम करना - यही लक्ष्य होने के कारण, कम होने के स्थान पर जब दुःख अधिक से अधिकतर होता जाता है, उसकी अवधि दीर्घ से दीर्घतर होती जाती है तब वह अधिक से अधिक असह्य होता जाता है। इन सब कारणों से भी मन अत्यंत क्षुब्ध रहता है।

सीताजी तो स्वकर्मों का ही दोष देखनेवालीं थीं। इसीलिए वे पूर्णतः शांत और स्वस्थ थीं। रामचंद्रजी के प्रति भी न कोई रोष न कोई फरियाद। (स्वकर्मदोष देखने का तत्काल प्राप्त होनेवाला यह लाभ भी क्या कम है कि उस लाभ को गँवा कर हम दूसरों के दोष देखने की मूर्खता करें?) सीताजी अत्यंत भव्य संदेश रामचंद्रजी को भेजती हैं - 'स्वामिनाथ ! प्रजा की बात सुनकर मेरा त्याग कर रहे हैं, कोई बात नहीं। आपको मुझसे सवाई सीता मिल जाएगी और इससे आपका मोक्ष तो रुकनेवाला नहीं है। परंतु यह तो संसार है। कभी जैन धर्मकी भी निंदा करे तो उसका त्याग न करना, क्योंकि उससे उच्चतर - श्रेष्ठ तर तो क्या उसके समकक्ष धर्म भी कोई आपको मिलेगा नहीं और उसका त्याग करने से आपका मोक्ष अवश्य रुक जायेगा।' कितनी भव्य बात... ! न कोई फरियाद, न कोई व्यंग्य, न एक भी आक्रोशसभर वचन।

मन की ऐसी स्थिति क्या हमें भी नहीं चाहिए?

अहमदाबाद में शाहपुर के चूनारा खांचा में मोंघीबहन नामक एक महिला रहती थीं। गुरुदेव श्री सिद्धिसूरीश्वरजी म.सा. (बापजी म.सा.) के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा। उनकी वंदना करने के बाद ही कुछ भी खाने का उनका नियम था। वर्षीतप का बिआसणा करने के लिए भी अगर गुरुदेव बैठ गए हों तो वे परदे के पीछे से हाथ बाहर निकालते और मोंघीबहन उस हाथ को वंदन करतीं। कर्मसंयोग से विवाह एक धर्मविमुख युवक से हुआ। वे बोरीवली में रहने लगीं। पति के मन में धर्म के प्रति भारी चिढ़। इस कारण से मोंघीबहन प्रभुदर्शन - सामायिक - स्वाध्याय कुछ भी करें तो पति बहुत क्रोध करते थे। खूब मार मारते। इसलिए पति की अनुपस्थिति में ही सब करती थी। छः कर्मग्रंथ, कम्मपयडीतक का अभ्यास किया था। दूसरों को भी सिखाती थीं। एक दिन कम्मपयडीकी प्रत पढ रही थी। अचानक पडोसके लडकोंने आकर कहा, 'काकी ! काका आये... काका आये...।' उन्हें इस समय पति आयेंगे ऐसी कल्पना नहीं थी। चारसौ पृष्ठोंकी प्रत जल्दी जल्दी पोथी में बांधकर उपर

आलमारी में रखी परंतु पति ने देख लिया। उनका क्रोध भड़क उठा। घर का दरवाजा बंद किया... 'मैं, काम पर जाऊँ तब तू यह धंधा करती है?' पत्नी को पीट नाशुरु किया... आक्रोश... अयोग्य शब्दों के बाण... धर्म के प्रति रोष की धधकतीं ज्वालाएँ। मार मारना तो चालू ही था। बाहर से लडके दरवाजे पर प्रहार करने लगे - दरवाजा खोलिए नहीं तो हम तोड़ डालेंगे। फिर भी उन्होंने दरवाजा न खोला। मोंघीबहन तो अरिहंत का नाम जप रहीं थीं... गुरुदेव का स्मरण कर रहीं थीं। पति की दुष्टता तो उन्हें देखनी ही नहीं थी। 'मेरे कर्म ही दुष्ट हैं'... और इसी कारण से न कोई फरियाद, न कोई रोष, न कोई दुर्भाव। पुनः पति के मन का आक्रोश और पुनः मार... पति के क्रोध का यह तांडव एक घंटे से भी अधिक समय तक चलता रहा। अंत में वह अपने काम पर चला गया। परंतु जाते जाते पोथी को उसने डाल दीया पानी की टंकीमें। सब पडोसी घर में आ गए। परंतु मोंघीबेन तो पूर्ववत् शांत और स्वस्थ। मानों हलके से दो चार चप्पत लगायें हों। पानी की टंकीमें देखा तो पोथी का कपड़ा भी गीला न हुआ था। पति के मार की ऐसी प्रसादी तो कई बार मोंघीबहन को मिली थी। फिर भी प्रौढावस्थामें पति को जब केन्सर हुआ तो उन्होंने पति की दिल लगा कर सेवा की। एक दिन पति ने कहा, 'तुझे मैं पत्नी कहूँ, माता कहूँ, भगवती कहूँ या देवी कहूँ? मैंने तुझे दुःख देने में कोई कसर छोड़ी नहीं है और तूने कभी भी फरियाद का एक शब्द भी मुँह से निकाला नहीं है, बल्कि मुझे सुख ही दिया है। अब जब मृत्यु दस्तक दे रही है तब तेरी प्रसन्नता के लिए मैं क्या करुं?

'अगर सचमुच मुझे प्रसन्न करना चाहते है, तो हमारी चाली में चौथे नंबर के कमरे में रहनेवाले भाई के साथ आपका कुछ झगडा हुआ था, जाकर उनको क्षमा कर दीजिए - 'मिच्छामिदुक्कड' कह दीजिए।'

स्वकर्मदोष देखनेवाला मनुष्य कितना शांत-स्वस्थ रह सकता है और समय आने पर कष्ट देनेवाले को भी करुणासभर हृदय से कैसी कल्याणप्रद बात समझा सकता है, इस बात का सचोट उदाहरण यह मोंघीबेन स्वयं नहीं है क्या? और अपने ही कर्मों का दोष देखनेवाले के लिए इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। इसका कारण भी स्पष्ट है। ऐसा मनुष्य दूसरे के अनुकूल व्यवहार को उपकार मानकर उसके साथ प्रीति या मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित कर सकता है, और प्रतिकूल व्यवहार को केवल अपने ही कर्मों का परिणाम मान लेता है जिससे शत्रुता तो मन के कोने में भी जन्म नहीं लेती। इस कारण से उसे सर्वत्र मित्र ही दिखाई देते हैं, कहीं भी शत्रु नहीं दिखता। तो फिर मन में व्यग्रता, भय, चिंता, आदि उसके पास फटकें भी कैसे? 'आसपास सभी मित्र ही मित्र हैं, कोई शत्रु

नहीं' यह कल्पना ही कितनी आह्लादजनक है! दूसरों के विचित्र व्यवहार में शत्रुता देखनेवाले बहुत ही परेशान होते रहते हैं जब कि अपने ही कर्मों का दोष देखनेवाले पूर्ण रूप से स्वस्थ - शांत रहते हैं।

कुछ वर्षों पहले आग्रा के एक परिवार में घटित यह घटना...एक विधवा माता ने मेहनत - मज़दूरी करके अपने दो पुत्रों को अच्छी शिक्षा दिलाई। दोनों को बेंक में अच्छी नौकरी मिल गई। दोनों की आय अच्छी थी। जीवन निर्वाह की अब चिंता न रही। अब विधवा माता के मन में केवल एक इच्छा थी - दोनों पुत्रों का किसी श्रीमंत परिवार की कन्याओं के साथ विवाह हो जाय। दोनों अच्छा दहेज लेकर आये तो जीवन आनंद से व्यतीत हो। दोनों पुत्र गुणवान थे, और विनयशील थे। जीवन में अच्छी तरह से स्थिर भी थे और चरित्रवान भी थे। इस वज़ह से माता की इच्छा पूर्ण हो उसमें कोई कठिनाई नहीं थी। अपनी कल्पना के अनुसार ही माता ने बड़े बेटे की सगाई एक सुखी परिवार की कन्या के साथ की। दहेज में एक लाख रूपये की रकम भी निश्चित हो गई।

माता ने कठिनाईयों से भरा जीवन बीताया था। चार-पाँच हज़ार रूपये भी कभी हाथ में देखे नहीं थे। और अब 'एक लाख रूपये एक साथ हाथ में आयेंगे' यह कल्पना ही इतनी सुखद थी कि माता बारबार सुनहरे स्वप्नों में खो जाती थी।

स्व.पूज्यपाद गुरुदेव श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज संसार का वर्णन इस प्रकार करते थे: *'धारेलुं न थाय अने न धारेलुं घणुं घणुं थाय एनुं नाम संसार'* मनुष्य की धारणा के अनुसार न हो और जिसकी स्वप्न में भी कल्पना न की हो ऐसा बहुत कुछ घटित हो जाय उसीका नाम संसार। ये शब्द इस परिवार के लिए पूर्णरूप से सार्थक हुए। शादी के पहले ही लड़की के पिता के घर पर आयकर अधिकारियों ने छापा मारा, व्यापार में भी बहुत नुकसान हुआ और सारी संपत्ति चली गई। निर्धारित मुहूर्त में शादी तो करवा दी परंतु दहेज न दे सके। माता के सारे स्वप्न चूर चूर हो गए। सारी अपेक्षाएँ अधूरी रहीं।

अब और कुछ तो कर नहीं सकते थे। नववधू का घर में प्रवेश तो हुआ परंतु माता के दिल में उसे प्रवेश न मिला। माता के दिल में तो पुत्रवधू के लिए छुपा हुआ तिरस्कार का, नापसंदगी का भाव पैदा हो गया। वैसे पुत्रवधू अत्यंत संस्कारी, शांत एवं सुशील थी। अपनी सास के लिए उसके मन में तो प्रेम ही था, पुत्री से भी अधिक सास की सेवा करती थी। गृहकार्य में भी दक्ष एवं उत्साही थी। किसी भी व्यक्ति का दिल जीतने के लिए पर्याप्त गुण एवं योग्यताएँ होते हुए भी वह अपनी सास का दिल न जीत सकी, क्योंकि सास को तो उसकी संस्कारिता

दिखती ही नहीं थी। उसकी दृष्टि समक्ष तो थी अच्छे खासे दहेज की अपेक्षा और भग्न आशा के टुकड़े। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं - किसी से किसी प्रकार की अपेक्षा मत रखो। कारण यह है कि एक छोटी सी अपेक्षा भी अगर पूर्ण न हुई तो अन्य अनेक बातों की अच्छाईओं को आप नहीं देख सकेंगे जिससे उन अच्छाईओं के आनंद का अनुभव भी आप नहीं कर सकेंगे और उस व्यक्ति के प्रति आप के मन में प्रेम के अंकुर भी फूट नहीं पायेंगे।

कुछ समय बाद छोटे भाई की भी शादी हुई। उसकी पत्नी दहेज में डेढ़ लाख रूपये लाई। माता की इच्छा पूर्ण हो गई। छोटी पुत्रवधू सास की लाडली बन गई। परिणाम? माता का व्यवहार पक्षपातपूर्ण हो गया। सुबह से रात तक, घर का सारा काम बड़ी बहू के जिम्मे। जरा सी देर के लिए आराम करने हेतु लेटी कि सास चिल्लाती, 'अरे! सो गई क्या? ये बर्तन कौन साफ करेगा?' उसकी सहेलियाँ मिलने आयें तो पाँच मिनट भी न हुए हों और सबके सामने ही बड़ी बहू को अपमानित किया जाता - अब सहेलियों को बिदा करो। उन्हें तो काम है नहीं तो निकल पडती हैं। गपशप करती रहोगी तो शाम का खाना कौन बनायेगा?

और छोटी बहू तो डेढ़ लाख रूपये लेकर आई थी ना! सास ने उसे तो रानी ही बना दिया। चार लोगों के बीच उसका बडप्पन प्रदर्शित हो ऐसे सन्मान दिलानेवाले कार्य छोटी बहू के हाथों करवाये जाते। किसी के घर भोजन समारंभ में जाने का निमंत्रण हो तो छोटा पुत्र और उसकी पत्नी ही जाते। छोटी बहू के मायकेवाले आयें तो उनका सुंदर स्वागत और आतिथ्य किया जाता। बड़ी बहू के रिश्तेदार आयें तो मानों अनचाहे लोग आ गए! सारी दूनियाँ समझ सके कि यह स्पष्ट रूप से पक्षपात हो रहा है ऐसा वातावरण उस घर का हो गया था। परंतु बड़ी बहू संस्कारी थी, कर्मविज्ञान के सिद्धांतों को समझनेवाली ही नहीं, जीवन में, अंत:करण में उतारकर तदनुसार जीवन जीनेवाली थी। जो कुछ हो - बुरा या भला - सब के पीछे कर्म को ही कारणरूप माननेवाली थी। सास के सिर पर उसने कभी दोषारोपण नहीं किया। इसीलिए सास के प्रति भक्तिभाव था। सास कैसा भी काम सौंपे तो भी मन में अंशमात्र भी दु:ख का अनुभव नहीं था।

'मन साध्युं एणे सघळु साध्युं'

(जिसने मन को वश कर दिया उसने सब कुछ पा लिया।) आनंदघनजी की यह बात संपूर्ण शुद्ध सुवर्ण के समान सही प्रतीत होती है ना!

बड़ी पुत्रवधू के साथ साथ अब तो बड़े पुत्र की भी उपेक्षा होने लगी। दोनों पुत्रों के बीच भी अब पक्षपातपूर्ण व्यवहार माता ने शुरु कर दिया। बड़ा पुत्र यह समझने लगा था और उसने तो कर्मविज्ञान को आत्मसात् किया नहीं था।

वह इस पक्षपात को कैसे सह सकता था? अशांति और द्वेष की भावना ने उसके मन में प्रवेश किया। परिणामत: माता के प्रति जो भक्तिभाव और आदरभाव थे वे तो अब अदृश्य ही हो गये। पत्नी के प्रति हो रहे अन्याय से वह झुंझला उठता तब वही उसे शांत करने का प्रयास करती। पुत्र जब अपनी माता का दोष बताता तब वह अपना ही दोष निकालती। फिर उन दोनों के बीच ऐसी चर्चा होती...।

पुत्र : तू तो माँ के प्रत्येक शब्द का पालन करती है, फिर तेरा दोष कैसा?

पत्नी : दोष मेरे कर्मों का...!

पुत्र : वह कैसे?

पत्नी : मेरे कर्म अच्छे होते तो पिताजी उनके वचन के अनुसार एक लाख रुपये दे सके होते और तब माताजी को मैं भी अच्छी लगती।

पुत्र : यह ठीक है परंतु माँ तो मुझे भी अन्याय करती है। मेरा क्या दोष है?

पत्नी : आपके भी कर्मों का ही दोष है।

पुत्र : मेरे कर्मों का क्या दोष?

पत्नी : अगर कर्मों का दोष न होता तो एक लाख तो क्या सवा लाख का दहेज लानेवाली पत्नी आपको भी न मिलती?

परंतु दिमाग में बैठ जाये ऐसी भी पत्नी की बात को पति दिल में उतार न सका। इस कारण से उसकी किस्मत में क्लेश और अशांति ही रहे। ऐसे में एक दिन कहीं से मिठाइयाँ आई। अच्छी अच्छी मिठाई माँ ने छोटे बेटे और बहू को दी और सादी-सामान्य मिठाई बड़ी बहु को। बड़ा बेटा इस पक्षपात को सहन न कर सका। वह बोल उठा: 'माँ, तुम्हारा ऐसा पक्षपात मैं कई दिनों से देख रहा हूँ। अगर तुम ऐसा ही करती रहोगी तो हम अलग हो जायेंगे।' यह बात सुनकर बड़ी बहू बोली - अरे ! आप यह क्या कह रहें हैं? जिस माता ने नौ-नौ माह गर्भ में रखा, पाल-पोस कर बड़ा किया, पढाया - अच्छी शिक्षा और संस्कार दिये, उससे अलग होने की बात आप कैसे कर सकते हैं? ऐसा तो विचार भी नहीं करना।

पत्नी की ऐसी बात सुनकर पति सोच में पड़ गया। सचमुच एक मज़दूर की तरह ढ़ेर सारा काम करने के बाद भी उसकी पत्नी को प्रशंसा के दो शब्द तो नसीब नहीं होते थे, उपर से माँ का आक्रोश ही सहना पड़ता था, जबकि छोटी बहू महारानी की तरह रहती थी तो भी माँ उसकी प्रशंसा करते नहीं थकती थीं। ये सब बार बार होने पर भी पत्नी की स्वस्थता, काम के प्रति निष्ठा और अपनी माता के प्रति भक्ति... सब कुछ पहले जैसा ही देखकर पति कई बार पूछता - 'तू

किसलिए यह सब सहन करती है?'

'मेरे लिए तो यह सब सहज है क्यों कि मैंने अपने आप को इसी के अनुसार ढाल लिया है।'

'तो तुझे ही दूसरों के अनुकूल होना है? माँ को अनुकूल नहीं होना चाहिए?'

'माँ तो माँ है। हमें ही उनके अनुकूल होना चाहिए ना?'

यह बहुत ही समझने जैसी बात है। आँखों को चश्मे के अनुकूल बनना नहीं होता है, चश्मे को आँखों के अनुरूप बनना होता है। कारण यह है कि (१) आँखें तो पहले से होती हैं, चश्मे बाद में आता है। (२) पसंदगी आँखों की नहीं की जाती है, पसंदगी चश्मे की की जाती है। ठीक उसी प्रकार (१) जीवन में माँ का अस्तित्व तो पहले से होता है, पत्नी का प्रवेश बाद में होता है। (२) पसंदगी माँ की नहीं की जाती, पसंदगी पत्नी की की जाती है। और इसीलिए पसंद की गई पत्नी माँ के अनुरूप होनी चाहिए। अर्थात् पत्नी को माँ के अनुकूल बनना है, माँ को पत्नी के अनुकूल नहीं। अस्तु...।

पत्नी स्वस्थ है, क्यों कि वह माँ की भूल देखती नहीं है और, 'प्रत्येक परिस्थिति में मुझे ही Adjust होना है' इस सुनहरा सूत्र उसने अपना लिया है। पति अस्वस्थ हो जाता है, झुंझला उठता है और इसीलिए अलग होने की बात कर रहा है क्यों कि वह माँ का दोष देख रहा है। ज्ञानीजन कहते हैं - *जब्भावेण कया पुण, किरिया तब्भाव वुड्ढि करी* क्रिया जिन भावों से की जाती है उन्हीं भावों में वह वृद्धि करनेवाली बनती है। बार बार छोटे पुत्र के प्रति पक्षपात करते रहने के कारण माता के दिल में भी बड़े पुत्र के प्रति तिरस्कार - अरुचि का भाव उत्पन्न हो गया था। इसीलिए अलग होने की बड़े पुत्र की बात का माता ने स्वीकार कर लिया। बड़ी पुत्रवधू की अनिच्छा होते हुए भी घर का विभाजन हो गया और माँ छोटे बहू-बेटे के साथ रहने लगी।

पहले ही दिन खाना खाने के बाद छोटी बहू तो सो गई। माँ ने कहा, 'बेटी, पहले बर्तन साफ कर लो, बाद में सोना।'

उत्तर मिला, 'माँ मुझसे यह नहीं होगा। मैं तो चली सोने...।'

आज तक बड़ी बहू ही ये सारे काम किया करती थी, आज माँ को करना पड़ा। करीब चार बजे छोटी बहू उठी, तैयार होकर बाहर जाने लगी।

'बेटी, कहाँ जा रही हो?'

'सहेली के घर।'

'परंतु शाम की रसोई?'

'देखिए, मैं तो सहेली के घर भोजन करनेवाली हूँ। उनको बेंक की पार्टी में जाना है।'

'ओर मुझे क्या करना है?'

'खाखरा तो है, चाय बना कर खा लेना।'

दूसरे दिन सुबह के समय सास ने बहू से कहा, 'कपड़े धो लो...'

'देखिए मांजी, मुझे ऐसा काम करने की आदत नहीं है, हम कोई नौकर रख लें तो?'

'हमारी ऐसी कौन सी कमाई है? इतनी तन्खा और ऐसे खर्च...? घर कैसे चलेगा?'

'परंतु माँजी, मैं जो ड़ेढ लाख रुपये लाई हूँ उन्हीं मे से ऐसा खर्च करते रहेंगे।'

छोटी बहू के मन में भक्ति, परिवार के प्रति या गृहकार्य के प्रति कोई विशेष रुचि कुछ भी नहीं थी। वह तो जिस प्रकार अपने श्रीमंत परिवार में रहती थी उसी ढंग से यहाँ भी रहना चाहती थी।

माँ को चिंता रहने लगी। इस प्रकार तो डेढ़ लाख खतम होने में कितना समय लगेगा? चिंता के कारण वह बीमार रहने लगी। पुत्र माँ का उपचार करवा रहा है परंतु पुत्रवधू यह समझ नहीं रही है कि केवल दवाईयों से बीमारी दूर नहीं हो सकती। कभी माता कहती - बहु! चार बार दवाईयाँ लेनी हैं। समय होने पर देती रहना।'

उत्तर मिलता - 'माँजी! टेबल पर दवाइयाँ रख देती हूँ। समय पर ले लेना।'

दवाई लेने का समय हुआ। माँ ने आवाज़ दी, 'बेटी! पानी देना, दवाई लेनी है।'

'यहाँ मट की आप के पास ही रख देती हूँ। बार बार मुझे मत आवाज़ देना।' सेवा के पाठ छोटी बहू सीखी ही नहीं थी। वह तो स्वकेन्द्रित थी। अपने आप में ही खोई रहती।

आज तक माता ने बडे बेटे और पुत्रवधू को अपनी बीमारी के समाचार ही नहीं दिये थे। परंतु कहीं से पुत्रवधू को समाचार मिल गए और तुरंत वह सास के पास दौड़ी। सास की बीमारी की बात पता लगने पर उनके लिए अपने घर से गरम मसाला ड़ालकर बनाया हुआ गरम गरम दूध ले आई और बीमार सास को

पिलाया। पैर दबाते दबाते अच्छी अच्छी बातें करने लगी। अपने घर का काम आगे पीछे करके भी पूरा दिन सास की सेवा में लगी रहती थी। धीरे धीरे माँ का स्वास्थ्य सुधरने लगा। एक दिन माँ खड़ी हो गई। अश्रुपूर्ण आँखों के साथ पुत्रवधू के पैर छू ने झुकी। पुत्रवधू कुछ समझ न सकी। बोल उठी 'माँ! आप यह क्या कर रहीं है? और आँखों में ये आँसू क्यों माँ ?'

'बेटी! मैंने तुझे पहचाना नहीं, बहुत परेशान किया है तुझे। अनेक कटु शब्द कहे हैं तुझे। कहाँ तेरा बडप्पन और कहाँ मेरी तुच्छता! मुझे क्षमा कर दे बेटी!'

'किस चीज़ की माफी माँ? मेरे कर्मों ने मुझे परेशान किया है, आपने नहीं, फिर क्षमा का प्रश्न ही कहाँ?'

वास्तव में बड़ी बहू ने सास का कोई दोष देखा ही नहीं था। और इसी कारण से उसके मन के कोने में भी अपनी सास के लिए कोई रोष या नाराज़गी थे ही नहीं।

माँ ने कहा, 'बेटी, मेरी एक प्रार्थना है, स्वीकार करोगी?'

बहु प्रसन्न स्वर से बोली, 'माँ! आपको प्रार्थना नहीं, आज्ञा ही करनी है। हम तो आपके बालक हैं, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है। आप कहिए।

माँ ने कहा, 'बेटी! यह पार्टीशन निकाल दिया जाय यही मेरी इच्छा है...।'

बहू बोल उठी 'शुभस्य शीघ्रम्... माँ! अभी हटा देंगे। शुभ कार्य में विलंब क्यों?'

अपने ही कर्मों का दोष देखनेवाला मनुष्य इस लोक में शांत एवं स्वस्थ रहने के साथ कितना आनंददायक फल प्राप्त करता है! और परलोक में? परलोक में कुदरत उसे कितने भव्य पुरस्कार देती है यह जानने के लिए अब हम नागकेतु का दृष्टान्त देखेंगे।

९. परलोक में भव्य इनाम...

पर्युषण महापर्व के दिनों में परमपवित्र श्री कल्पसूत्र के व्याख्यानों का पठन-श्रवण किया जाता है। उसमें नागकेतु का दृष्टांत आता है। पूर्वजन्म में नागकेतु एक पन्द्रह वर्ष के आसपास का किशोर था। उसकी माता की मृत्यु हो चुकी थी। अपर माता थी। अपर माता के प्रति भी वह इतना आज्ञांकित, नम्र और विनयी था। माता कभी भी कोई भी कार्य करने के लिए कहे तो वह चाहे कैसा भी खेल खेल रहा हो उसे छोड़ कर आनंदपूर्वक उसका काम कर देता था। लेकिन माता के दिल में नागकेतु के प्रति अत्यधिक द्वेष ही था। बात बात पर उसे डाँटती रहती, थप्पड लगाती और कभी कभी तो बड़ी ही निर्दयतापूर्वक पीटती, भूखा रखती... कमरे में बंद कर देती। दिन प्रतिदिन अपर माँ का त्रास बढ़ता गया। किशोर दुःखी दुःखी हो गया। अंत में अपने एक मित्र की सलाह माँगने गया। उसके सौभाग्य से वह मित्र श्रावक था। जिनवचनों का उसने केवल श्रवण ही नहीं किया था, उन वचनों के अर्थ को समझा भी था और आत्मसात् करके जीवन में उतारा भी था। इसी कारण से उसकी दृष्टि संकुचित नहीं थी। दीर्घ दृष्टि से विचार करने का गुण उसे प्राप्त था, इसलिए केवल वर्तमान को न देखकर दीर्घ भविष्य के विषय में सोचता था। वर्तमान के दुःखों का प्रतिकार करने की जो रीत भविष्य के अधिक भयंकर दुःखों को आमंत्रण देनेवाली हो वह रीत उसे मान्य नहीं थी। वह तो इस रीति से प्रतिकार करने में विश्वास रखता था जिससे न वर्तमान में दुःख रहे, न भविष्य में भी कोई दुःख आये और इतना ही नहीं, भविष्य में कुदरत भव्य पुरस्कार भी दे।

सभा : क्या वर्तमान के दुःख का ऐसा प्रतिकार संभव है?

संत : अवश्य संभव है। शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस कल्याणमित्र ने भी ऐसा ही प्रतिकार बताया। और उस किशोर को दूसरे ही भव में शाश्वत सुख का भोक्ता बना दिया। उसने भी मानों अपने समक्ष दो विकल्प रखे : इस किशोर को अपनी अपरमाता का बहोत त्रास हैं, क्योंकि (१) इस किशोर के कर्म दुष्ट हैं। (२) इस किशोर की अपर माता दुष्ट हैं। कल्याणमित्र अच्छी तरह से समझता है कि कुदरत के हाथों इस किशोर को पुरस्कार दिलाना है तो प्रथम विकल्प ही उसके मन में दृढतापूर्वक स्थिर कर देना चाहिए। यद्यपि किशोर का मानस तो

दूसरे विकल्प को ही दृढतापूर्वक स्वीकार करता है।

सामान्यत : सारी दुनियाँ अपनी परेशानिओं के लिए किसी न किसी अन्य जीव को ही दोषित ठहराती है और उसे दुष्ट मानती है। हर बार यह उत्तर गलत होता है जिसके फलस्वरूप प्राय : जीव कुदरत की ओर से भयंकर सज़ा ही पाते हैं। किशोर की मनोदशा भी ऐसी ही थी इसीलिए अपर माता के विषय में बहुत फरियाद करता रहता था। स्वयं कितना आज्ञांकित है, विनयी है इत्यादि कहते हुए अपर माँ कितना त्रास देती है इसका वर्णन किया। फिर अपने मित्र से पूछा, 'मित्र ! अब मुझे क्या करना चाहिए?'

किशोर का मित्र अगर चाहता तो कह सकता था - तू इतना आज्ञांकित है, नम्र है, फिर भी तेरी अपर माँ तुझे इतने कष्ट दे रही है? तेरे हाथों में ताकत है या नहीं? उठा एक लकड़ी और कर दे उसे सही ! एक बार ऐसी दो-चार दे दे कि हमेशा के लिए वह चुप हो जाय! ऐसी सलाह तो किशोर को भी अच्छी ही लगती क्यों कि उसकी मनोदशा भी ऐसा ही ध्वनित कर रही थी कि उसकी माँ ही बड़ी दुष्ट थी। और दूसरों को दुष्ट मानना यह तो जीव के अनादिकालीन संस्कार हैं। इसलिए, 'दोस्त, तेरी माता दुष्ट नहीं है, तेरे कर्म दुष्ट हैं' ऐसी बात उसे समझाना प्रवाह की विरुद्ध दिशा में तैरने जैसा ही कठिन था, फिर भी उस मित्र ने उस किशोर को यही समझाना उचित समझा क्योंकि किशोर का वास्तविक कल्याण उसी में था।

उसने किशोर से ये ही शब्द कहे, 'मित्र ! तेरी माता को दुष्ट मत मान। दुष्ट तो हैं तेरे पूर्वकृत कर्म। प्रतिकार तो दुष्ट का करना होता है! जो दुष्ट नहीं है उसका भी अगर प्रतिकार करना है तो सब हमारा भी प्रतिकार करने लगेंगे।

प्रश्न - परंतु अगर माता का प्रतिकार नहीं करना है तो उसकी ओर से आनेवालीं पीडाओं का अंत ही नहीं आयेगा। तो फिर यह प्रतिकार 'न वर्तमान में दुःख रहे, न भविष्य में दुःख आये' वाला प्रतिकार तो कभी नहीं बनेगा ना?

उत्तर - नहीं, वह उस प्रकार का ही प्रतिकार बनेगा। आशय यह है कि जो कोई पीडाएँ आती हैं, कष्ट आते हैं... सहन करना पड़े ...अगर ये कष्ट जीव को दुःखी करते हैं तो ही दुःखरूप कहलाते हैं। अगर ये दुःखी नहीं करते हैं तो ये दुःखरूप नहीं कहलाते हैं।

अन्य राज्य पर विजय प्राप्त करके सीकंदर स्वदेश लौट रहा था। पराजित राजा की संपत्ति इत्यादि बहुत कुछ साथ में था। एक मज़दूर को हीरे-जवाहरात से भरा थैला उठाने के लिए दिया था। उसे सिकंदर के साथ साथ ही चलने की आज्ञा थी। मार्ग में एक छोटा सा पहाड़ आया। वह मज़दूर थक जाता

था, उसकी साँस फूल रही थी। मंत्री के मन में उसके प्रति सहानुभूति का भाव जागा। उसने कहा, 'राजन्! इसका बोझ थोड़ा कम कर दीजिए न !'

सीकंदर ने कहा - मंत्रीवर! यह तो आप कह रहे हैं, वह कहता हैं?

मंत्री - मैं उसीसे पूछ लेता हूँ...।

राजा - 'हाँ पूछ लीजिए। लेकिन पहले यह घोषणा करवाई जाय कि जिस मज़दूर ने जो बोझ उठाया है वह राजा उसे तोहफे के रूप में देंगे।' घोषणा करवाई गई और तब मंत्री ने उस मज़दूर से पूछा, 'क्या तुम बोरे में से भार कम करना चाहते हो?' उसने स्पष्ट मना कर दी, उतना ही नहीं, उसके चेहरे पर अब तक जो दीनता, विवशता और थकान के भाव झलक रहे थे उसके स्थान पर ताज़गी, स्फूर्ति, और चमक दिखने लगी। यह भारी बोझ क्या अब उसके लिए दुःखरूप रहा होगा?

वह हिंदु नारी ! पति की मृत्यु होने पर वह सती होना चाहती थी। अंग्रेज अमलदार उसे मना कर रहा था। कह रहा था - यह स्त्री स्वेच्छा से नहीं, समाज के दबाव के कारण सती होना चाहती है, इसलिए मैं अनुमति नहीं दूँगा। अमलदार का यह अभिप्राय सुनकर स्त्री ने स्पष्टता की, 'मैं स्वेच्छा से सती हो रही हूँ।' अमलदार ने कहा, यह क्षणिक आवेश है। अग्नि का स्पर्श होते ही सारी खुशी हवा हो जाएगी।' परंतु स्त्री दृढ़ थी।

अंग्रेज अधिकारी बोला, - 'मेरी परीक्षा में सफल होगी तो अनुमति मिलेगी।' उसने आग जलाई और उस स्त्री से कहा, 'इस अग्नि में अपना हाथ रख और तब तक हाथ न खींचना जब तक मैं न कहूँ।' स्त्री ने जलती आग में अपना हाथ रख दिया। अंगुलियाँ जलने लगीं, हथेली भी जल उठी, फिर भी उसने हाथ नहीं हटाया। इतना ही नहीं, उसके मुख पर एक विशिष्ट हास्य चमकने लगा। अंत में उस अधिकारी ने अनुमति दी और वह स्त्री उसी तेजोमय हास्य के साथ सती हुई।

भगतसिंह ने भी हँसते हुए ही मृत्यु का स्वागत किया था ना?

लोकोत्तर शासन में तो ऐसे अनगिनत दृष्टांत मिलेंगे। खंधकसूरि के पाँचसौ शिष्यों ने यांत्रिक घानी में पिले जाने के लिये 'पहले आप... पहले आप' नहीं, बल्कि 'पहले मैं... पहले मैं' ऐसी 'अहमहमिका' की थी।

अगर मृत्यु दुःखरूप लगती होती तो यह स्पर्धा या मुख पर हास्य संभव ही नहीं है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि जो कष्ट जीव को दुःखी करता है वही दुःख रूप कहलाता है।

(१) 'अपर माता को दुष्ट मानकर उसका प्रतिकार करुंगा तो कुदरत मुझे भयंकर सज़ा करेगी। इसके स्थान पर कर्मों को दुष्ट मानकर अगर उसको समतापूर्वक सहन कर लूँगा तो कुदरत मुझे भव्य पुरस्कार देगी।' भव्य पुरस्कार की कल्पना त्रास को दुःखरूप रहने ही नहीं देती यह बात स्पष्ट है।

(२) दो-तीन किलो वजन उठाने का भी अभ्यास जिसे नहीं है उसे पाँच किलोग्राम वजन उठाना कष्टमय प्रतीत होगा, परंतु दस किलोग्राम वजन उठाने की क्षमता प्राप्त कर लेनेवाले को यह दुःखरुप प्रतीत हो ही नहीं सकता। इसीलिए एक संत ने प्रभु से सुंदर प्रार्थना की है - 'हे प्रभु ! मैं यह नहीं माँगता कि मेरा बोझ कम कर। मैं केवल इतना ही माँगता हूँ कि उस बोझ को उठानेवाली मेरी पीठ को अधिक मज़बूत बना दे।'

हमने पहले देखा है उस प्रकार अपनी भूल को देखनेवाले की सहन करने की शक्ति बढ़ती जाती है और सहनशक्ति बढ़ जाने के बाद वही त्रास उसके लिए दुःखरूप नहीं रहता।

(३) 'अब यह सहन करना ही है' ऐसी बात मन में दृढ़ हो जाने के बाद और अनेक बार ऐसे दुःख सहन कर लेने के बाद यह सब दैनिक क्रियाओं की तरह सामान्य बात हो जाती है और कोई भी दुःख दुःखरुप लगता ही नहीं है। अपना हाथ या पैर टूट जाने से आनेवाली अपंग दशा या शारीरिक खामी आरंभ में जितनी दुःखदायक होती है, उतनी दुःखदायक 'अब यह परिस्थिति हमेशा के लिए बनी रहनेवाली है, उसमें कोई सुधार संभव नहीं है' ऐसा स्वीकार कर लेने के बाद नहीं रहती। उस परिस्थिति में मन आदि used to - बन जाता है। कुछ सुधार की अपेक्षा हो और सुधार न हो तो वह परिस्थिति अवश्य दुःखदायक प्रतीत होगी। अन्य की भूल देखनेवाले को यह सुधार की अपेक्षा रहती है, क्योंकि उस अन्य का वर्तमान व्यवहार दुःख का मूल प्रतीत हो रहा है। जब कि अपनी भूल को माननेवाला यह स्वीकार कर लेता है कि 'गलती हो गई है, वह हो गई है... अब उसे बदलना पूर्णतः असंभव है' इसलिए सुधार की इच्छा या अपेक्षा उसे रहती ही नहीं है। और अपेक्षा नहीं है इसीलिए यह परिस्थिति दुःखरुप रहती नहीं है। कारण यह है कि - *'अविक्खा अणाणंदे'* - *'परापेक्षा महादुःखं।'* इत्यादि शास्त्रवचन अपेक्षाओं को ही दुःख कहते हैं। (इसकी तर्कसंगत समझ के लिए पढ़ें पुस्तक - अविक्खा अणाणंदे)

अर्थात् जो कुछ कष्ट हमारे जीवन में आ पड़े हैं अथवा आ पड़ते हैं उन्हें दुःखरुप बनाने की इच्छा न हो और उसके कारण स्वयं दुःखी न होना हो तो उसके लिए श्रेष्ठ उपाय है स्वदोषदर्शन - अपनी ही भूलों का दर्शन। अगर व्यक्ति

स्वयं दु:खी नहीं होता है तो फिर उसके लिए चिंतित होने की, तनावग्रस्त होने की या क्षुब्ध होने की संभावना ही नहीं रहती है यह स्पष्ट है। इसलिए अपने दु:खों या कष्टोंमें अपनी ही भूल देखना यही मानसिक शांति के लिए अचूक उपाय है।

इस किशोरके मानस में भी 'मेरी माता दुष्ट नहीं है, दुष्ट तो हैं मेरे कर्म' ऐसी विचारधारा दृढ़ हो जाती तो अपर माता का त्रास दु:खस्वरूप रहता ही नहीं यह स्पष्ट है (यह समझ भविष्य में कितना भव्य पुरस्कार प्रदान करनेवाली सिद्ध होगी यह हम आगे देखेंगे।)

प्रश्न - परंतु ऐसी मानसिकता प्राप्त कैसे की जा सकती है? अत्यंत भयंकर कष्ट सहन करते समय 'मेरे ही कर्मों का दोष है...' इत्यादि विचार द्वारा मन अपने कर्मों को दुष्ट मानने के लिए तैयार हो भी सकता है, परंतु अपना एक भी दोष न हो फिर भी अगर कोई परेशान करता हो, राह में कांटे बो रहा हो तो 'वह व्यक्ति दुष्ट नहीं है' ऐसा मानने के लिए मन कैसे तैयार हो सकता है?मन तो यही कहेगा कि - 'वही बदमाश है, दुष्ट है, मुझे परेशान करता है... ।'

उत्तर - हाँ, सही है। अनादिकाल के संस्कार तो ऐसे ही हैं और इसीलिए यही कहनेवाला मन ऐसी मानसिकता को प्राप्त करे यह कठिन है ही। फिर भी योग्य समझ के द्वारा विवेक को जागृत करने से ऐसी मानसिकता प्राप्त की जा सकती है। जेलर आदि विचारणा ही योग्य समझ है। परंतु उस समझ द्वारा ऐसी मानसिकता प्राप्त कराना अत्यंत आवश्यक है ही, क्यों कि मित्र समझता है कि आग लगी हो तो पानी ही छिड़कना चाहिए, पेट्रोल नहीं। तो ही मैं उसका सच्चा मित्र!

गुणसेन के असह्य त्रास से त्रस्त अग्निशर्मा, अन्य कोई उपाय न रहने के कारण अपना घर और नगर सब कुछ छोड़कर भाग निकला और पहुँचा आश्रम में कुलपति के पास। कुलपति के पूछने पर अपनी सारी आपबीती कह सुनाई। भले ही कुलपति ने जैन शासन प्राप्त नहीं किया था, किंतु आर्य देश और आर्य संस्कार तो उन्हें प्राप्त थे। वे समझते है: आग लगी हो तब पानी ही छिड़कना चाहिए... चाहे दूसरे को अच्छा लगे या न लगे। अगर ऐसा मैं करूँ तो ही मैं सच्चा हितैषी। अत: उन्होंने पानी छिड़कना आरंभ किया - 'वत्स ! गुणसेन तेरा उपहास क्यों करता है?'

'गुरुजी ! मेरा शरीर अत्यंत कुरूप है, इसलिए।'

'वत्स ! कुरूपता तो अनेक लोगों को मिली होती है, परंतु तेरे तो अंग-

प्रत्यंग में विचित्रताएँ भरी हुई हैं, हैं ना?'

'जी हाँ गुरुदेव ! मेरा एक भी अगं सीधा या अच्छा नहीं है। दर्पण में देखता हूँ तो मुझे भी बहुत बुरा लगता है...।'

'वत्स! तेरी इस कुरूपता के सर्जन में गुणसेन का हाथ होगा ना?

'गुरुवर ! इसमें गुणसेन का क्या चल सकता है? मेरे अपने कर्मों का ही दोष... !'

'सही है वत्स ! गुणसेन तेरा उपहास करता है तेरी कुरूपता के कारण और तेरी विवशता के कारण, और तेरी कुरूपता और विवशता की जड़ है तेरे पूर्वकृत अनुचित कर्म... तेरे पाप कर्म। अर्थात् तेरे उपहास का मूल है तेरे पूर्वकृत पाप कर्म ही... यही तुझे मन में सोचना है। यदि ऐसे पाप कर्म नहीं होते तो ऐसी कुरूपता न होती... और यदि यह कुरूपता न होती तो तू इन सब के उपहास का पात्र भी न होता....!'

'गुरुदेव ! आप की बात तो सही प्रतीत होती है। परंतु जो कुछ होता है वह सब क्या हमारे कर्मों के कारण ही होता है?'

'हाँ वत्स ! जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे यह नियम यदि जगत में नहीं होता तो जगत का कोई भी जीव दु:खी दिखाई नहीं देता, क्योंकि दु:ख किसी को नहीं चाहिए।'

कुलपति ने अग्निशर्मा के मन में यह बात इतनी दृढ़ कर दी कि अपने प्रत्येक कष्ट में स्वयं के पूर्वकृत कर्म ही कारणभूत हैं। फिर तो यह स्वाभाविक है कि जो दुष्ट लगता है उसका प्रतिकार करने की इच्छा जागृत होगी। कर्मों के प्रबल प्रतिकार हेतु एक मात्र शस्त्र है - तप। 'मेरे कर्म अति अति दुष्ट हैं, अत: उसके प्रतिकार हेतु मैं तप भी अति अति तीव्र करूंगा... मासक्षमण के पारणे मासक्षमण... और वह भी जीवन पर्यंत...।' अब गुणसेन के प्रति न कोई रोष का भाव है न अप्रीति या कोई फरियाद... और कोई बुरे भाव नहीं हैं तो मन भी डूब गया अपूर्व शांति के सागर में।

हम एक कल्पना करें...। मान लीजिए कि कुलपति ने अग्निशर्मा को ऐसी विचारधारा की ओर प्रेरित ही न किया होता अथवा अग्निशर्मा ने गुरु की बातों को हृदयंगम ही न की होती तो...! गुणसेन से दूर चले जाने के कारण गुणसेन का त्रास सहन करने की स्थिति तो रही न होती, परंतु आज तक सहे हुए उस त्रास की स्मृति बारबार मन को त्रस्त करती रहती, पीडित करती रहती। स्वयं सही हुई इतनी भयंकर मानसिक यातनाएँ और फिर भी गुणसेन को कुछ

भी न कर सकने की व्यथा, विवशता... और ऊपर से शत्रु समान गुणसेन का राजा बनना इत्यादि उसकी प्रगति देखकर मन में कितनी जलन एवं ईर्ष्या होती...! यह सब समझने जैसा है - हम जिसे घोर अन्यायी, दुष्ट शत्रु मान रहे हैं वह हमें अनेक दोषों से भरा हुआ, नालायक, आततायी ही लगेगा क्यों कि हम उसे शत्रुता के चश्मे से देख रहे हैं। परंतु दूसरे लोग तो शत्रुता का चश्मा पहनकर नहीं देखते हैं। इसलिए वे तो उसे आततायी नहीं, बल्कि गुणवान मानते हैं और उसकी जयजयकार करते हैं, उसे फूलमालाएँ पहनाकर उसका सन्मान करते हैं। और जब इन 'दूसरे लोग' में अपने निकट के मित्र स्वजन या स्नेही भी दिख पड़ते हैं तो यह सब अधिक असह्य हो जाता है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि वह व्यक्ति गुणवान नहीं होता फिर भी उसके पुण्योदय के कारण सब उसे गुणवान मानते हैं और उसके गुण गाते रहते हैं। पुण्यवान होने के कारण ही वह सर्वत्र सफलता प्राप्त करता है, प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता ही जाता है। शत्रुता का भाव मन में होने के कारण हम ने जिसकी निष्फलता, अप्रतिष्ठा और हानि की कामना की थी उसकी सफलता को हम सहन नहीं कर सकते हैं। उसमें भी अगर उसे बार बार सफलता प्राप्त हो रही हो तो मन में भयंकर तूफान उठते हैं। स्वयं जिसकी बुराई चाहते हैं, उसी के लिए प्रयत्नशील हैं, उसीकी प्रगति और प्रतिष्ठा देखने को मिले तब कुदरत के प्रति भी धिक्कार की भावना जागती है। अगर इश्वर को ही कर्ताहर्ता माननेवाले हैं तो ईश्वर को भी कोसने की इच्छा हो जाए, ऐसा उल्कापात मन में जागता है। और कभी कभी तो उस व्यक्ति से मिलनेवाली परेशानियों की तुलना में कहीं अधिक कष्टप्रद तो यह मानसिक त्रास हो जाता है।

स्वकर्मदोष देखने से परलोक में प्राप्त होनेवाले लाभ को बाजु पर रखें तो भी इस जन्म में प्राप्त होनेवाले मानसिक त्रास से मुक्ति और मन को प्राप्त होनेवाली अपूर्व शांति का लाभ क्या कम हैं?

किसी एक या अनेक व्यक्तियों की ओर से सहनी पडतीं अनेक परेशानिओं के कारण जिनका मन संतप्त, व्यथित रहता हो उन सभी को अत्यंत करुणा से पूर्ण - आर्द्र हृदय से अंतरतम की गहराई से हार्दिक प्रेरणा है कि अंत:करणपूर्वक स्वकर्मदोष देखने का प्रयोग करें... इस पुस्तक में दिये गए अनेक उदाहरण एवं तर्कों के द्वारा - 'कोई मनुष्य दुष्ट नहीं है - मेरे दु:खों का कारण नहीं हैं.... दुष्ट तो हैं मेरे अपने कर्म...' यह बात अपने आप को, अपने मन को समझाने का प्रामाणिक एवं पर्याप्त प्रयत्न करें... एक अपूर्व मानसिक चमत्कार होगा... निश्चितरूप से होगा। अनेक महँगी औषधियों से जो शांति

प्राप्त करना दुर्लभ है वह शांति बिना किसी औषधि के सरलता से प्राप्त हो जाएगी...।

वह श्रावक मित्र भी यह बात अच्छी तरह से समझता है और इसी कारण से उसने भी अपर माता के त्रास से त्रस्त उस किशोर के मानस पर इसी प्रकार का जल छिड़कना आरंभ किया...

'मित्र ! अगर तेरे कर्म दुष्ट न होते तो अपनी माँ की असमय मृत्यु, पिता का दूसरा विवाह, अपर माता के दिल का वात्सल्यपूर्ण नहीं बल्कि द्वेषयुक्त होना, पिता का भी तेरी चिंता न करना ऐसी सारी परिस्थिति का उत्पन्न होना... यह कुछ भी न होता ना?' इस प्रकार कई बातें समझा कर उसने अपर माता के प्रति किशोर के मन में जो द्वेष की आग जल रही थी उसे बुझा दिया। 'ये सारे कष्ट मेरे ही पूर्वकृत कर्मों का दुष्परिणाम है' यह बात उस किशोर के मन में दृढ़ हो गई और तुरंत ही उसके मन में से अपर माता के विषय में रही सारी फरियादें दूर हो गई। और अब वह भी अपने पूर्वकृत कर्मों का प्रतिकार करने के लिए तत्पर हो गया।

श्रावक मित्रने भी वही उपाय बताया.... 'तप।' 'पूर्वकृत कर्मों का नाश करने के लिए अट्ठम का तप कर।' किशोर ने श्रावक मित्र की मूल्यवान सलाह का स्वीकार किया, पर्युषण महापर्व में अट्ठम का तप करने का संकल्प किया। 'मेरे ही पूर्वकृत अपराधों की सज़ा है' यह दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी अत: सज़ा का स्वीकार कर लेने की मानसिकता है। अपर माता के विषय में इसलिये अब न कोई फरियाद है न दुर्भाव। मन अब शांत - प्रशांत - उपशांत हो गया है। एक दिन घास की कुटिया में किशोर सोया हुआ था। माता ने उसे देखा। उसके हृदय में तो इस पुत्र के प्रति वही द्वेष है। अत: इस परिस्थिति को अच्छा मौका समझकर उसने ठंडे दिल से कुटिया को आग लगा दी। कुटिया के साथ किशोर भी जलकर भस्म हो गया। परंतु मन में एक ही रट न था - पर्युषण अट्ठम...पर्युषण अट्ठम... और अब देखिए - 'मेरी माता दुष्ट नहीं है... मेरे कर्म दुष्ट हैं' इस सही उत्तर का कुदरत के द्वारा दिया गया भव्य पुरस्कार...।

चन्द्रकांता नामक एक नगरी थी जिसके राजा थे विजयसेन और नगरश्रेष्ठी थे अत्यंत श्रीमंत श्रीकांत। उनकी पत्नी का नाम था श्रीसखी। विवाहित जीवन के कई वर्ष व्यतीत हो चुके परंतु संतान प्राप्ति नहीं हुई थी। अनेक उपाय कर चुके थे किंतु कामना और प्रतीक्षा का अंत न आया। कालांतरे इसी किशोर ने इस नगरश्रेष्ठी के घर पुत्र के रूप में जन्म लिया। नाम रखा गया नागकेतु।

पूर्वभव में कुटिया में रहनेवाला कंगाल किशोर अत्यंत संपन्न परिवार में महल के समान भवन में खेलनेवाला नागकेतु बना। पूर्व-जन्म में ममता मयी माता का वियोग और अपर माता के द्वारा दिये गए कष्ट सहे थे, पिता का स्नेह भी उसके लिए दुर्लभ था। (अगर पिता सहृदयी होता तो अपर माता भी इतने कष्ट न दे सकती।) इस जन्म में दीर्घकालीन प्रतीक्षा के बाद पुत्र प्राप्ति हुई थी। जिससे परिवार एवं माता-पिता का तो असीम प्रेम मिला ही, परंतु 'सेठ के घर पुत्र हुआ'... 'सेठ के घर पुत्र हुआ...' इस तरह पूरे गाँव का भी वह प्रिय हो गया। और अभी तो यह प्रारंभ था। कुदरत तो इससे कई गुना अधिक कैसे भव्य पुरस्कार देती है यह देखेंगे।

शिशु की वय अभी तो केवल तीन या चार मास की हुई है। स्तनपान ही जीवन है और पर्युषण महापर्व आ रहा है। परिवारजनों मे से कोई बोला, 'पर्युषण आ रहे हैं, मैं अट्ठम करूंगा।' अन्य किसीने कहा, - 'पर्युषण में मैं भी अट्ठम करूंगा।' अन्य किसीने भी यही शब्द दोहराये। इन बार बार दोहराये गए शब्दों को सुनकर उस शिशु के मन में भी 'अट्ठम' 'पर्युषण'... 'अट्ठम'... 'पर्युषण' शब्द प्रतिध्वनित होने लगे... और धीरे धीरे इस जन्म और पूर्वजन्म के बीच के अंधकार की परतें हट नेलगीं... शिशु को जातिस्मरण ज्ञान हुआ... पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ। अपनी किशोरावस्था, अपर माता का त्रास, श्रावक मित्र की सलाह... अट्ठम का संकल्प... सब कुछ दृष्टि सम्मुख तादृश हो उठा।स्तनपान करनेवाले शिशु नागकेतु ने निश्चय किया - 'अब पर्युषण की भी प्रतीक्षा नहीं करनी है... आज से ही अट्ठम...।' शिशु की तपश्चर्या शुरु हो गई। माता श्रीसखी पुत्र को दूध पिलाने का प्रयत्न करने लगी, परंतु शिशु दूध पीता ही नहीं है।

माता का दूध तो एकदम हलका होता है, आसानी से हजम हो जाता है। दो-तीन घंटों में तो पेट खाली हो जाता है। तीन-चार मास का शिशु! उसके शरीर की क्षमता कितनी? कुछ ही समय में वह बेहोश - मूर्छित हो गया। स्वजनों ने सोचा कि उसकी मृत्यु हो गई। नगर के बाहर ले जाकर गड्ढा बनाकर शिशु को गाड़ दिया। नागकेतु के पिता श्रीकांत को इतना सख्त आघात लगा कि उनकी भी मृत्यु हो गई।

उस काल में राज्य का नियम था कि पिता का कोई पुत्र न हो तो मृत व्यक्ति की सारी संपत्ति राजकोष में दे देनी चाहिए। राज्य के अधिकारी संपत्ति लेने के लिए आ गए। परंतु नागकेतु तो कुदरत के भव्य उपहारों का अधिकारी था। उसकी चिंता कुदरत को करनी है। और कुदरत ने पाताल लोक में स्थित नागराज धरणेन्द्र के सिंहासन को कंपित किया। उसने अवधिज्ञान से सारा

वृत्तांत जान लिया। ब्राह्मण का रूप धारण करके वह पृथ्वीतल पर आया। राजपुरुषों को श्रेष्ठी श्रीकांत की संपत्ति लेने से रोका और श्रीकांत का पुत्र जीवित है ऐसा उसने बताया। अब राजा विजयसेन तथा अन्य लोग जहाँ शिशु को गाड़ दिया था वहाँ आये। ऊपर से मिट्टी हटाई और शिशु को बाहर निकाला। ब्राह्मण ने उस पर अमृत का सिंचन किया और वह होश में आया।

धरणेन्द्र (ब्राह्मण) ने राजा से कहा, 'इस बालक का खूब जतन से पालन करना। भविष्य में वह तेरी एवं तेरे नगर की रक्षा करनेवाला है। वह चरम शरीरी है - इसी भव में सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष जायेगा।'

कुछ समय बाद, एक बार एक निर्दोष मनुष्य को चोर समझकर राजा ने उसे देहांतदंड दिया। मृत्यु के समय थोड़ी समता रखने के कारण वह मनुष्य देव बना। देव ने अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव देखा और राजा पर भयंकर द्वेषभाव जागृत हुआ। राजा को उपद्रव करने तथा नगर का नाश करने के लिए वह तैयार हो गया। उसने एक विराट शिला नगर पर फेंकी। नागकेतु ने यह देखा। भव्य जिनमंदिरों का विध्वंस कैसे होने दिया जाये? उसने ऊपर आकर अपनी एक अंगुली उठाई।प्रचण्ड पुण्य के प्रभाव से और अपूर्व तेज की शक्ति से शिला रुक गई। नगर की रक्षा हुई।

और कुछ वर्ष व्यतीत हुए। प्रभु की पुष्पपूजा करते समय पुष्प में रहे एक छोटे से सर्प ने डस लिया। तीव्र वेदना... फिर भी नागकेतु शुभध्यान में अपूर्व समतापूर्वक आगे बढ़े।क्षपक श्रेणि से केवलज्ञान प्राप्त किया। शुभ भावों के प्रभाव से सर्पदंश की कोई असर न हुई। दीर्घकाल तक केवली स्वरूप में विचरण करके अंत में चार अघाती कर्मों का क्षय करके मोक्ष में पहुँचे...।

हम में से कई लोगों ने अट्ठम तो क्या, अट्ठाई एवं मासक्षमण जैसे तप भी कई बार किये हैं, परंतु धरणेन्द्र तो क्या, एक सामान्य देव भी आया नहीं है... और बालक नागकेतु के पास तो धरणेन्द्र स्वयं आये...।

नागकेतु का राजा के द्वारा अत्यंत ममता एवं प्रेमपूर्वक लालन-पालन हुआ। द्वेषी देव का सामर्थ्य भी नागकेतु के सामने हार गया और उसे शिला का संहरण कर लेना पड़ा।

और सर्वोच्च शिखर के समान सर्वोच्च ज्ञान... अनेक जन्मों की दीर्घ, कठोर साधना के बाद भी जिसकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है उस केवलज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष...

सही उत्तर के लिए कुदरत की ओर से प्राप्त होनेवाले ये पुरस्कार कितने भव्य होते है...!

क्या ऐसे भव्य पुरस्कार प्राप्त करना हम भी नहीं चाहेंगे?

कुदरत के लिए हम भी ना तो पराये हैं ना अप्रिय। वह तो हमें भी ऐसे ही कल्पनातीत भव्य पुरस्कार देने के लिए तैयार है, वह केवल प्रतीक्षा कर रही है उसके द्वारा ली गई परीक्षा में हमारे सही उत्तर की...।

जीवन में कुछ भी सहन करने का समय आये तब... मेरे कर्मों का ही दोष है... कष्ट देनेवाला तो केवल

जेलर...!

जेलर...!

जेलर...!

(पृष्ठ ९६ से चालु)

अब आजीवन पारणा करना ही नहीं है... अनशन स्वीकार लिया। और फिर...

गुणसेन से लेकर समरादित्य तक गुणसेन के नव मानवभव हुए... पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई... ऐसे सम्बन्ध में आने के बावजूद भी अग्निशर्मा प्रत्येक जन्म में तीव्रवैर के साथ ही जीता है... और गुणसेन की हत्या के लिये प्रपंच करता ही रहता है... गुणसेन समताभाव में आगे बढ़ता रहा... मानवभव के अंतराल में ऊपर ऊपर के देवलोक में जाता रहा... मानवभव में अधिक समृद्धि एवं गुणविकास को प्राप्त करता रहा... अंत में समरादित्य के भव में सर्वकर्मों का क्षय करके मोक्ष पा लिया। अग्निशर्मा प्रत्येक नरक आदि दुर्गतिओं में अतिदीर्घकाल तक भटकता रहेगा... और भयंकर दुःखों को भोगता रहेगा।

प्रिय पाठक!

इस पुस्तक को पढ़ने से अगर मन में थोड़ी सी भी शांति का अनुभव हुआ हो तो पुनः पुनः इस पुस्तक को पढ़ें।

साथ ही जैन - अजैन, स्नेही, स्वजन, मित्र, व्यापारी सब को भी इसे पढ़ने की प्रेरणा देंगे तो उन्हें भी शांति प्राप्त करने का मार्ग मिलेगा। आवश्यकता प्रतीत हो तो आप स्वयं इस पुस्तक की पाँच - दस प्रतियाँ खरीदकर मित्रों एवं अन्य लोगों को उपहार स्वरूप दें। (यदि आप इस प्रकार किसी को पुस्तक दें तो उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरणा भी देतें रहें, क्यों कि लोगों की वाचन के प्रति रुचि कम होती जा रही है)

हजारों रूपयों की -कोई भी बहुमूल्य वस्तु उपहार में देने के बजाय ऐसी पुस्तक का उपहार अत्यंत लाभकारक सिद्ध होगा यह निःशंक बात है।

ठहरिए !

अपने आसपास का प्रत्येक मनुष्य अगर हमें अन्यायकर्ता लगता हो तो सर्वप्रथम हमें अपने ही स्वभाव के विषय में चिंतन करने की आवश्यकता है। अपना स्वभाव क्रोधी, अपने शब्द कर्कश, प्रकृति शंकाशील, सब की निन्दा करने की आदत, कामचोर वृत्ति, इनमें से कोई भी अवगुण हमारे स्वभाव में प्रतीत हो तो सर्वप्रथम उसको दूर करना चाहिए। किसी के विषय में उलटा सोचना यह भी दुर्गुण ही है। तटस्थरूपसे स्वनिरीक्षण - आत्मचिंतन करने के बाद अगर ये अवगुण, ये कमियाँ अपने स्वभाव में नहीं है ऐसा विश्वास हो जाय तो भी पूर्वकर्म एवं अपराधों का विचार करके मन को तो शांत ही बनाये रखना है।